हिन्दू-राज्यों की ऐहिक उन्नति पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी पर इन राज पुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो चुका था। जब राजा तथा राज-पुत्रों का ही चरित्र भ्रष्ट हो, तब प्रजा कहाँ से सुखी हो सकती है? इसी लिए प्रजा को दु:ख था और पृथ्वी के लिए यह पाप का बोझ असह्य हो उठा था।

सामाजिक आचार-विचार

भारत की उस समय राजनीतिक अवस्था क्या थी? यह ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो जायगा। अब उस समय की सामाजिक अवस्था का निरीक्षण कीजिए। राज-पुरुषों के चरित्र भ्रष्ट हो रहे थे, पर स्त्रियों में अभी तक धर्म बाकी था। दुर्योधन जैसे पापी, दुष्ट और ईर्ष्यालु की माता और धृतराष्ट्र जैसे नयनों के साथ हिये के भी अंधे की स्त्री गांधारी, पातिव्रत धर्म की प्रत्यक्ष प्रतिमा हैं। धृतराष्ट्र अंधे थे, इसलिए इस साध्वी स्त्री ने भी जन्म भर अपनी आँखों पर पट्टी बाँध रखी थी। "पति जब अंधे हैं, तब ये नेत्र लेकर मैं क्या करूँगी?" धन्य हो देवी। पातिव्रत धर्म का ऐसा दृष्टांत भारत-वर्ष के इतिहास में ही मिल सकता है। यह सच है, कि द्रौपदी के पाँच पति थे पर इससे यह मालूम होता है कि उस समय ऐसी प्रथा रही होगी। आज भी हिमालय के पहाड़ों में रहनेवाली जातियों में ऐसी प्रथा देखने में आती है। परंतु द्रौपदी पतिव्रता थी, इसमें संदेह ही क्या है? उसका

पातिव्रत-धर्म उतना ही ज्वलंत है, जितना भगवान् रामचंद्र की अर्द्धांगिनी का या किसी एक-पतिवाली सती स्त्री का। यह उसके पातिव्रत-धर्म का ही प्रताप था, जो कौरवों की सभा में भगवान् ने उसकी लाज रखी। पातिव्रत-धर्म के संबंध में उस समय भी वही भाव थे, जो आज हैं, बल्कि यह कहिए कि स्त्रियों का सतीत्व-धर्म ही उस समय हिंदू-समाज की रक्षा कर रहा था। पति के संग जलकर सती हो जाने की प्रथा उस समय भी थी और नकुल-सहदेव की माता, माद्री, अपने पति पांडु के साथ एक चिता पर जलकर पति के पीछे-पीछे स्वर्ग गई थी। परंतु सभी स्त्रियाँ नहीं जलती थीं। वे पति के पीछे भी संसार में रहकर अपना धर्म निबाहती और कर्त्तव्य-पालन करती थीं। उस समय स्त्रियाँ शास्त्र समझतीं और शास्त्र की चर्चा भी करती थीं। पर यह कल्पना रूढ़ हो चली थी कि स्त्रियों को मोक्ष का अधिकार नहीं है—जैसा कि, गीता के एक श्लोक से प्रतीत होता है। क्षत्रिय-राजपुरुषों और राजस्त्रियों के इस वर्णन से उस समय की सर्वसाधारण स्त्रियों की स्थिति का भी अनुमान हो सकता है।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था

उस समय की परिस्थिति में एक बात विशेष रूप से यह दिखाई देती है कि ब्रह्म बल से क्षात्र-बल की प्रतिष्ठा अधिक हो

उज्ज्वल तारे

अर्थात्

भारतवर्षीय सात महापुरुषों की महत्त्वपूर्ण
जीवन-घटनाओं का वृत्तांत

—:०:—

संकलनकर्त्ता और संपादक

अयोध्यानाथ शर्म्मा, एम० ए०

अध्यापक, सनातनधर्म्म कालेज, कानपुर

१९३२

चतुर्थ संस्करण] [मूल्य १)

चुकी थी। उस समय भी नगर से दूर तपस्वियों और ऋषियो के आश्रम, गुरुकुल और विद्यापीठ थे, जहाँ ब्राह्मण क्षत्रिय एक साथ रहकर गुरु की सेवा करते हुए वेदों और शास्त्रों का अध्ययन करते थे। साथ ही गुरु राजा के नौकर होकर भी रहते थे। जिस प्रकार एक ओर सर्वतंत्र-स्वतंत्र सांदीपनी ऋषि का आश्रम था, जहाँ श्रीकृष्ण और सुदामा ने एक साथ विद्या पढ़ी थी, उसी प्रकार हस्तिनापुर की राजधानी में राजा के मातहत रहकर गुरु द्रोणाचार्य राज-पुत्रों को पढ़ाते और एक प्रकार से सेवा-वृत्ति करते थे, जिसके कारण कौरव-पाडव-युद्ध में उन्हें कौरवों का साथ देना पडा था। ब्राह्मण इस प्रकार अपने पद से पृथक् हो रहे थे और अनेक ब्राह्मणों ने ब्रह्म कर्म छोड, क्षत्रिय-वृत्ति धारण कर ली थी। इसी प्रकार यादवादि अनेक क्षत्रियो ने क्षात्र-वृत्ति छोडकर वैश्य कर्म अंगीकार कर लिया था। इससे यह मालूम होता है कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भग होने लगी थी। परन्तु यह बात नहीं है कि उस समय धर्मज्ञ ऋषियों और ब्राह्मणों का अभाव हो। सांदीपनी ऋषि का नाम ऊपर आ ही चुका है। भारतकार श्रीकृष्ण द्वैपायन जैसे परम तपस्वी और ब्रह्म-ज्ञानी लोग भी उस समय मोजूद थे। परन्तु ये लोग राज काज आदि सांसारिक कार्यों में दखल नहीं देते थे। ये एकदम निवृत्ति-परायण हो गये थे। इनकी निवृत्ति-परायणता और राजपुत्रों की प्रवृत्ति-परायणता देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय एक तरफ

Printed and published by K. Mittra, at the Indian Press, Ltd.,
Allahabad

निवृत्ति-मार्ग की पराकाष्ठा थी, तो दूसरी तरफ प्रवृत्ति मार्ग की। निवृत्ति-मार्ग के लोग संसार को माया समझकर वन-वास और सन्यास को ही परम पुरुषार्थ समझते थे और प्रवृत्ति-मार्ग के लोग सांसारिक सुखोपभोग के परे कुछ देखते ही न थे। राजाओं को यह जरूरत नहीं जान पड़ती थी कि हम ऋषि-मुनियो या वेद-वेत्ता ब्राह्मणो से सलाह लें। ब्राह्मणो को भी राज-काज में दखल देना मोक्ष-धर्म के प्रतिकूल मालूम होता था। इस तरह राज-धर्म और मोक्ष-धर्म का परस्पर संबंध ही टूट चुका था। आज जिसे हम पाश्चात्य सभ्यता कहते हैं, जिसका आधार केवल सांसारिक सुख-साधनों की वृद्धि है, उसी सभ्यता के लक्ष्यहीन मार्ग पर यहाँ का राज-वंश चल रहा था। हाँ, कुछ अपनी प्राचीन सभ्यता के अभिमानी लोग भी थे, परंतु राज्य-सूत्र उनके हाथ में नहीं था। यही नहीं, बल्कि राज-काज से उनका जी ऊब गया था और वे सब काम-धाम छोड़कर हरि-नाम में रत हो जाना ही मोक्ष का एकमात्र उपाय मानते थे। उस काल के धर्म-परायण पुरुषों के कैसे विचार थे, वे अर्जुन के मुख से प्रकट होते हैं, जो कहता है कि मुझे राज्य नहीं चाहिए, मैं युद्ध न करूँगा, भिक्षाटन करके रहूँगा और ईश्वर की आराधना करूँगा। इस तरह धर्म-परायण लोग राज-काज को धर्म नहीं समझते थे और राज-काजी लोग धर्म से कोई नाता नहीं रखते थे।

निवेदन

विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए हिंदी में अनेक संग्रह समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं और अब भी बराबर होते रहते हैं। ये संग्रह गद्य और पद्य दोनों में अलग-अलग अथवा कभी-कभी एक ही पुस्तक में रहते हैं। ऐसे अनेक संग्रह मैंने देखे हैं, पर मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि प्रायः सब संग्रहों का अधिकांश एक सा ही रहता है। उनमें बहुत थोड़ा परिवर्तन देखने में आता है। हिंदी-साहित्य में जो नवीन उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित होती हैं उनका इन संग्रहों में कोई उपयोग नहीं किया जाता। दो-चार संग्रहों में जो लेख या लेखांश उद्धृत हो चुके हैं वे उलट-फेरकर रख दिये जाते हैं। इस दृष्टि से विवेचन करने पर मुझे इस बात के कहने में कोई संकोच नहीं होता कि इन संग्रहों की १०-१२ वर्ष पहले जो अवस्था थी वही आज भी बनी हुई है। इस बीच में भावों, विचारों और नीति में जो उलट-फेर हुआ है उसका कुछ भी ध्यान नहीं रखा जाता है। यह अवस्था ठीक नहीं है और शिक्षा के विचार से तो सर्वथा अनुचित है।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर मैंने यह संग्रह उप-स्थित किया है। इसमें सात महापुरुषों के चरित्र हैं जो अपनी कृति और कीर्ति के कारण भारतवर्ष के इतिहास में चिर-

यही तो साधारणत ब्राह्मणो और क्षत्रियो की अवस्था थी। वैश्यों का यह हाल था कि वे गौएँ चराते और खेती करते थे, परन्तु ब्राह्मण और क्षत्रिय उन्हें मोक्ष के अधिकारी नहीं समझते थे। उनकी अवस्था सर्वसाधारण स्त्रियो की सी थी। उनमें शिक्षा का प्रचार नहीं था। वे वेदों और उपनिषदों के गहन तत्त्व नहीं समझ सकते थे। शूद्रों की अवस्था तो और भी खराब थी। एकलव्य के दृष्टात से यह मालूम हो जाता है कि शूद्रों को धनुर्विद्या का भी अधिकार नहीं था और वे समाज के बाहर ही समझे जाते थे। आर्यो में उनकी गणना नहीं होती थी। इस प्रकार उस समय समाज-शृङ्खला के टुकडे टुकडे हो चुके थे।

तात्पर्य यह है कि जिस समय श्रीकृष्ण पैदा हुए, उस समय राज सूत्र अधर्मी राजाओं के हाथ में था, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था बिगड गई थी, स्त्रियो, वैश्यों और शूद्रों का मोक्ष का अधिकार भी नहीं माना जाता था, क्योंकि वे सदा ससार में ही रत रहते थे और धर्म-परायण पुरुषों की इतनी अधिक उन्नति हुई थी कि त्यागियो का एक अलग समाज ही स्थापित हो गया था और वे लोग राज-काज से अलग हो गये थे। इस तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों की आत्यतिक उन्नति हो गई थी। एक ओर अधर्म की प्रबलता थी तो दूसरी ओर धर्म की, पर अधर्म को मारकर धर्म को राजगद्दी दिलानेवाला कोई नहीं था। इसी हेतु को सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण का अवतार हुआ।

श्रीकृष्ण-चरित्र की मुख्य घटनाएँ

जिस समय श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, उस समय सर्व-साधारण लोगों के विलक्षण भाव थे। लोग अधर्म का प्रतिकार यथाशक्ति कर रहे थे। इस काम मे आत्मबलिदान की सीमा हो चुकी थी। वसुदेव के छ बच्चों को कस ने मार डाला था। प्रजा का मन सतप्त और क्षुब्ध था और सब मना रहे थे कि किसी तरह इन अधर्मियों के राज्य का सत्यानाश हो।

भाद्र कृष्ण अष्टमी की रात को, रोहिणी नक्षत्र में, आकाश से पर्जन्य-वृष्टि और विद्युल्लता कडकने के साथ श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। रातों-रात वसुदेव उस बालक को गोकुल में पहुँचा आए। गोकुल में गौओं और गोपों के बीच में उसका लालन-पालन हुआ। ये गोप कौन थे? यादव-कुल के अनेक क्षत्रियो ने क्षात्र-वृत्ति छोड दी थी, वे वैश्यों का पेशा करने लगे थे। इस तरह ये गोप वैश्य भी थे और क्षत्रिय भी। इनमें अनेक शूद्र भी रहे हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। ये गोप नगर-निवासी नहीं थे। नगरों से दूर स्थानों मे ये अपनी गौओं के साथ कभी यहाँ, कभी वहाँ, इस तरह बन-जारों के समान रहते थे। इनका स्वभाव सरल था, ये सहृदय होते थे, ईश्वर के अस्तित्व मे इनका विश्वास था, पर इनमें आर्य-सस्कृति नहीं थी—वर्णाश्रम-धर्म का पालन नहीं था। ऐसे लोगों में पलकर श्रीकृष्ण बढने लगे। गोपों का निष्कपट प्रेम, वनो का स्वतत्र समीर और सरस जीवन का

उज्ज्वल तारे

---

(१) श्रीकृष्ण-चरित्र की अलौकिकता

संसार में अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए, हो रहे हैं और आगे भी होंगे, पर अब तक जो हुए हैं, उनमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसके साथ श्रीकृष्ण की तुलना की जा सके। भारतवर्ष में भगवान् बुद्धदेव जैसे सर्व-संग-परित्यागी धर्मोपदेशक, परिव्राजकाचार्य श्रीमत् शंकराचार्य जैसे धर्म-संस्थापक, राजा हरिश्चंद्र जैसे सत्यवादी, दधीचि जैसे आत्म-त्यागी, शिवाजी जैसे गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक स्वराज्य-स्रष्टा, गुरु गोविंदसिंह जैसे धर्मवीर आदि असंख्य महात्मा और प्रतापी पुरुष हुए। अन्य देशों में भी ईसा और मुहम्मद जैसे धर्म-संस्थापक, हैनिबाल जैसे महाप्रतापी दिग्विजयी योद्धा, वाशिंगटन जैसे उदार-चरित्र, अब्राहम लिंकन जैसे परम निःस्पृह विश्व-बंधु आदि अनेक असंख्य महापुरुष अवतीर्ण हुए, पर इनमें से कोई भी ऐसा नहीं हुआ, जिसका चरित्र श्रीकृष्ण के समान सर्वांगीण हो। कोई धर्म-संस्थापक था, कोई वीर था, कोई त्यागी था, कोई

निष्पाप वायु-मंडल—इन बातों ने सुंदर-शरीर-धारी श्रीकृष्ण को निष्कपट प्रेमी और अतुल पराक्रमी बना दिया। बचपन में ही उन्होंने शरीर-सामर्थ्य के अद्भुत पराक्रम किये। वे गोपों के प्राण थे और गोप उन पर अपने प्राण न्योछावर करने को तैयार रहते थे। गोप मल्ल विद्या मे बडे प्रवीण थे। श्रीकृष्ण उसमे उनके अग्रणी हुए। दिन-दिन गोपों और गोपाल का बल बढने लगा। कंस घबरा उठा। उसे सर्वत्र कालरूप कृष्ण दिखाई देने लगे। जल में, स्थल में, नभ में—सर्वत्र श्रीकृष्ण की काल-मूर्ति आविर्भूत होकर उसे डराने लगी। कृष्ण को मारने के लिए कंस ने जाल बिछाया, पर उसमें वह आप ही जा फँसा और अत में मारा गया।

श्रीकृष्ण ने कंस को मारकर उसका राज्य स्वयं नहीं लिया। उग्रसेन को राजगद्दी पर बिठाकर वे आप एक साधारण प्रजा-जन की भाँति अपने माता-पिता के पास मथुरा में रहने लगे। पर मथुरा की इस राज्य क्रांति से भारत में सर्वत्र श्रीकृष्ण का नाम फैल गया और उस समय जो राजा राज्य करते थे, वे श्रीकृष्ण को अपना शत्रु मानने लगे। जरासंध तो आग-बबूला हो उठा, क्योंकि एक तो श्रीकृष्ण के रूप में उसकी अधर्म-पूर्ण सार्व-भौम सत्ता के लिए एक नया शत्रु खडा हो गया और दूसरे, उसका दामाद कंस उन्हीं के हाथों मारा गया था। इसलिए जरासंध ने मथुरा पर चढाई कर दी। मथुरा पर आये हुए इस संकट को टालने के लिए श्रीकृष्ण

परम भक्त था, कोई विश्व बंधु था, कोई स्वराज्य-संस्थापक था, पर सब बातें एक साथ किसी में नहीं थीं। इसी लिए श्रीकृष्ण के साथ इनमें से किसी की तुलना नहीं हो सकती। यदि श्रीकृष्ण के साथ तुलना करने के योग्य कोई वैसा ही आदर्श महापुरुष अवतीर्ण हुआ था, तो वे मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान श्रीरामचंद्र थे, जिनकी कीर्ति आज भी भारत की दशों दिशाओं में व्याप्त है और जिनका घर-घर में गुण-गान होता है, परंतु भगवान् रामचंद्र भी श्रीकृष्णचंद्र के सामने नहीं ठहरते, क्योंकि यद्यपि भगवान् रामचंद्र ने अपने आचरण से संसार को सदाचरण का मार्ग दिखलाकर धर्म-राज्य की स्थापना की थी, तथापि उन्होंने श्रीकृष्ण के समान स्वमुख से धर्मोपदेश नहीं किया था। श्रीकृष्ण ने धर्म-राज्य और धर्म-क्षेत्र की स्थापना की। श्रीकृष्ण ने राज्य-क्रांति की और सामाजिक तथा धार्मिक क्रांति भी की। श्रीरामचंद्रजी की तुलना में श्रीकृष्ण की यही विशेषता है। इसके अतिरिक्त रामचंद्र राज-पुत्र थे और श्रीकृष्ण कारा-गृह में पैदा हुए थे, गौएँ चरानेवालों में पले थे और सर्वत्र राज्य-क्रांति कराकर आप स्वयं राजा नहीं हुए—वल्कि राज्य-क्रांति कराकर सदा धर्म का उपदेश करते हुए चले गये। उन्होंने धर्म-राज्य की स्थापना की और हिन्दू-धर्म का अद्वितीय और सर्व-मान्य ग्रंथ भी निर्माण किया, जो केवल हिंदुस्थान में ही नहीं, आज सारे संसार में पूज्य माना जाता है। आज "श्रीमद्भगवद्गीता" ही हिंदू-धर्म का आधार

वहाँ से भाग गये। जरासध ने मथुरा से अपनी सेना हटा ली और श्रीकृष्ण का पीछा किया। गोमत पर्वत पर श्रीकृष्ण ने जरासध आदि की अपार सेना का जिस वीरता और रण कौशल के साथ सहार किया, इतिहास में उसका कहीं जोड नहीं है। इस युद्ध के पश्चात् करवीर-राज के साथ श्रीकृष्ण का युद्ध हुआ और उसमें करवीर-नरेश 'शृगाल' मारा गया। यह राज्य भी श्रीकृष्ण ने स्वय नहीं लिया, बल्कि शृगाल के पुत्र को गद्दी पर बिठाकर आप और आगे बढे और एक समुद्र-वेष्टित द्वीप में अपनी छावनी और राजधानी स्थापित की, जिसे द्वारका कहते हैं। पर श्रीकृष्ण द्वारका के भी स्वय राजा नहीं हुए। ये सब पराक्रम करके जिस समय श्रीकृष्ण मथुरा को फिर लौट आये, उस समय मथुरा-वासियों को यह आशा थी कि श्रीकृष्ण बडे ठाट-बाट के साथ आवेंगे, पर श्रीकृष्ण एक साधारण गोप के वेश में ही मथुरा पहुँचे। उनका वह गोप-रूप समस्त राजाओं की समवेत राज्य-श्री से अधिक तेजस्वी और दिव्य था। आगे चलकर श्रीकृष्ण ने जरासध का वध कराया, पर वहाँ भी उन्होंने उसके पुत्र सहदेव को ही राजगद्दी पर बिठाया। फिर पौंड्रक वासुदेव को मारकर उन्होंने उसका राज्य भी उसी के पुत्र को सौंप दिया। इस तरह श्रीकृष्ण ने अपने पराक्रम की सर्वत्र धाक तो बैठा दी, पर राज्य किसी का नहीं छीना।' उन्होंने कस का वध कर मथुरा में नीति और न्याय का राज्य

है और संसार में इसके जोड का दूसरा ग्रथ ही नही है। इस बात को पश्चिमी देशों के विद्वान् भी स्वीकार करते है। महाभारत-काल के पश्चात् भारत में जिन-जिन महात्माओं ने अवतीर्ण होकर हिंदू-समाज की व्यवस्था बाँधी है, उन सबको अपनी व्यवस्था सुस्थिर रखने और उसे सर्व-मान्य कराने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के इस अलौकिक ग्रथ का ही आधार लेना पडा है। यही श्रीकृष्ण-चरित्र की अलौकिकता है, जिसके कारण किसी महापुरुष से उनकी तुलना नहीं हो सकती।

श्रीकृष्णकालीन भारत की अवस्था

श्रीकृष्ण जिस समय पैदा हुए, उस समय भारतवर्ष में अफगानिस्तान के गांधार (कदहार) प्रदेश से लेकर प्राग्ज्योतिष याने आसाम तक और काश्मीर से सह्याद्रि-पर्वत परंपरा के और भी दक्षिण में, बहुत दूर तक, हिंदू-आर्य-क्षत्रियों के अनेक छोटे-बडे स्वतंत्र राज्य थे और सभी राज्य धन-धान्य-समृद्ध तथा ऐहिक उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए थे। स्थान-स्थान में बडे-बडे नगर और व्यापार-केंद्र थे तथा बडे बडे राजप्रासादों, सरोवरों, उद्यानों और क्रीडा-स्थलों से देश परिपूर्ण था। सभी राजा प्रतापी और वीर थे, सभी स्वतंत्र थे, पर कोई चक्रवर्ती राजा नहीं था, यद्यपि उस समय मगध-देश के राजा जरासंध की धाक सबसे अधिक बैठी थी और यदि कोई राजा किसी को कुछ समझता था, तो

स्थापित किया। उन्होंने जरासंध का वध कराके राजाओं को कैद से छुड़ाया और नरकासुर का नाश करके सोलह हजार एक सौ कुमारियों को मुक्त किया, जो श्रीकृष्ण के साथ ही द्वारका में आकर रहने लगीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थान-स्थान में राज्य-क्रांति कराने में श्रीकृष्ण का कोई महान् उद्देश्य था—उसमें उनके अपने स्वार्थ का लेश भी नहीं था।

श्रीकृष्ण का उद्देश्य

गोमत से लेकर आसाम तक सारे भारत को एक बार पादाक्रांत करके श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को भारत का सार्वभौम सम्राट् निर्वाचित करने का उद्योग किया। युधिष्ठिर के राज-सूय-यज्ञ करने का यही मतलब है। यह राजसूय-यज्ञ करके किसी को चक्रवर्ती राजा मानने की क्या आवश्यकता थी और युधिष्ठिर को वह पद क्यों दिया गया? भारत-व्यापी भिन्न-भिन्न राज्यों को एक सूत्र में बाँधकर एकता स्थापित करने का उद्योग प्राचीन काल से होता चला आया है। इस उद्योग को सब लोग एक महान पुण्य-कर्म समझते थे। इसकी उपयोगिता आधुनिक राजनीति-जिज्ञासु भी समझ सकते हैं। प्रिन्स बिस्मार्क ने जिस प्रकार जर्मनी के छोटे-छोटे राज्यों को एक करके एक महान शक्तिशाली जर्मन-साम्राज्य स्थापित किया, श्रीकृष्ण का यह उद्योग भी बाह्यत उसी प्रकार का था।

जरासध को ही। जरासध ने कितने ही राजाओं को अपने यहाँ कैद भी कर रखा था, जिससे सब राजा उससे डरते और उसका लोहा मानते थे। जरासंध ने जो इतने राजाओं को अपने यहाँ कैद कर रखा था, उससे यह मालूम होता है कि जरासध को अपने बल का बडा अभिमान था और वह सर्वत्र अपने ही राज्य का विस्तार किया चाहता था। उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए राज्यों में पहली बात जो हम देखते है, वह यही है—अपने बल का गर्व और लोभ। चेदि-देश के राजा शिशुपाल आदि और भी अनेक गर्विष्ठ राजा उस समय मौजूद थे। प्राग्ज्योतिष का राजा जैसा बलवान् था, वैसा ही विलासी और दुराचारी भी था। उसने अपने राज्य में ऐसा दुराचार आरम्भ किया था कि अपने विलास-भोग के लिए उसने सोलह हजार एक सौ सुदरी कुमारियाँ चुनकर अपने रगमहल में ला रखी थीं। दूसरी बात यही विलासिता और अनाचार है। तीसरी बात—कस के दरबार मे यह अत्याचार दिखाई देता है कि उसने अपने पिता, परम नीतिमान् महाराज उग्रसेन को कैद कर राजगद्दी पाई थी और वह प्रजा पर असह्य अत्याचार कर रहा था। चौथी बात—पांचाल देश में कौरव-पांडवों का भयकर अत कलह है। इस अत कलह के साथ-साथ विलासिता, दुराचार और अमानुषी अत्याचार तथा सत्यानाशी गर्व की मूर्तियाँ भी मौजूद थीं। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस समय इन स्वतंत्र

परंतु इसमें और उसमें बडा भारी अंतर इस बात का है कि इसका उद्देश्य धर्मसंस्थापन था और उसका इसके विपरीत। इसी लिए इस राजसूय में चेदिदेश के राजा शिशुपाल जैसे महाप्रतापी राजाओं ने पुण्य-कर्म जानकर ही योग दिया था। परंतु युधिष्ठिर ही सम्राट् क्यों माने गये ? उनसे अधिक तेजस्वी और प्रतिभावान् राजा भी अनेक थे। परंतु युधिष्ठिर के समान धार्मिक, दयावान्, न्याय-पूर्ण, सत्यवादी, सत्य-प्रतिज्ञ और सत्य-कर्मा दूसरा न था। युधिष्ठिर साक्षात् धर्मराज थे और इसी से धर्म-रक्षा के लिए किये जानेवाले राजसूय-यज्ञ में धर्मराज का ही राज्याभिषेक कराया गया। इस प्रकार धर्म-रक्षणार्थ साम्राज्य-स्थापन का महान् उद्योग सफल हुआ, पर धर्मराज्य मे अभी अनेक विघ्न थे। कंस, जरासंध आदि का वध हो चुका था, श्रीकृष्ण और पांडवों की धाक जम गई थी, युधिष्ठिर का साम्राज्याभिषेक भी कराया जा चुका था, पर भीतर ही भीतर राजाओं के षड्यन्त्र चल रहे थे। श्रीकृष्ण राजसूय से लौटकर द्वारका पहुँचते हैं, तो क्या देखते हैं कि वहाँ शत्रुओं ने द्वारका पर चढाई करके नगर बरबाद कर डाला है। श्रीकृष्ण इधर शत्रुओं से लडते हैं, उधर पांडव कौरवों के जाल में फँसते हैं। पांडव जुए में हारकर बारह वर्ष वन-वास और एक वर्ष अज्ञात-वास के लिए चले जाते हैं। श्रीकृष्ण को चैन नहीं है। जिस दिन उन्होंने कंस को मारा, उस दिन से उन्हें एक क्षण भी विश्राम

करने को नहीं मिला। उन्हें नित्य नये शत्रुओं से सामना करना पडता है, पर इससे श्रीकृष्ण के उद्देश्य का ही रास्ता साफ़ होता जाता है।

पांडव चले गये, दुर्योधन युधिष्ठिर के सिंहासन पर बैठा। जब वन-वास और अज्ञात-वास समाप्त हुआ, तब पांडव प्रकट हुए और अपना राज्य वापिस माँगने लगे। वे कम से कम पाँच ग्राम चाहते थे, पर कौरवों ने नहीं माना। श्रीकृष्ण ने मध्यस्थता की, पर कौरवों ने किसी की नहीं सुनी। तब युद्ध हुआ। उस युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हो गया। केवल दस आदमी बचे।

भारतीय युद्ध में क्षत्रियों का यह जो भयंकर संहार हुआ, उसी को बहुत से लोग भारत की वर्त्तमान अवनति का मूल समझते हैं। पर जिनकी ऐसी समझ है, उन्होंने श्रीकृष्ण चरित्र के रहस्य को ही नहीं समझा है। जिस समय युद्ध आरंभ होने को था, उसी समय अर्जुन को यह शंका हुई थी कि इस युद्ध का परिणाम बुरा होगा, क्षत्रिय-कुल नष्ट हो जायगा, क्षत्राणियाँ व्यभिचारिणी होंगी और वर्ण संकर फैलेगा, अधर्म का ही राज्य होगा, फिर धर्म कहाँ रह जायगा? इसी शंका का समाधान करने के लिए श्रीकृष्ण ने उस समय वह दिव्य उपदेश दिया है, जो आज भी धर्म की रक्षा कर रहा है। यदि युद्ध न होता, तो क्या होता? कौरवों का ही साम्राज्य होता। उस समय राजपुत्रों की बुरी दशा थी। धर्म की

महान् विभूतियों में रहता है। श्रीरामचद्र के समय में वानरों में भी भगवद्भक्ति का प्रचार था। गुरु गोविंदसिंह के समय मे सभी सिक्ख वैसे ही वीर थे। श्रीशिवाजी के समय मे मरहठों में भी वही धर्म-श्रद्धा और शूरता थी। इसी त्रिकालाबाधित नियम के अनुसार श्रीकृष्ण के समय में भी जनता में वे गुण मौजूद थे, जिनका आत्यतिक उत्कर्ष समुच्चय-रूप से श्रीकृष्ण में हुआ था। श्रीकृष्ण के समय मे ही श्रीकृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यास वर्त्तमान थे, जिनका लिखा हुआ ग्रथ पचम वेद माना जाता है। श्रीकृष्ण के गुरु सांदीपनी ऋषि जैसे तपस्वी, वसुदेव जैसे त्यागी, सुदामा जैसे ब्राह्मण, उद्धव जैसे भगवद्भक्त, युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, भीम जैसे पराक्रमी, अर्जुन जैसे वीर और धार्मिक, भीष्म जैसे मृत्युजय, गाधारी जैसी पतिव्रता स्त्रियाँ, गोप जैसे सरल और श्रद्धालु लोग उसी समय वर्तमान थे, पर हम ऊपर कह आये हैं कि यद्यपि ऐसे-ऐसे धार्मिक पुरुष मौजूद थे और जनता में धर्म-भाव भी था, तथापि राज्य सूत्र जिनके हाथ में थे, वे धर्म के विरोधी थे और इसी का यह परिणाम हुआ था कि धार्मिक जनों का राजकाजी लोगों से बहुत ही कम सवन्ध रह गया था। यही नहीं, बल्कि धार्मिक लोग निवृत्ति परायण हो रहे थे। निवृत्ति परायणता धार्मिक उन्नति की पराकाष्ठा है, पर उसमें यह दोष है कि जब धार्मिक लोग राजकाज से अलग हो जाते हैं, तब राजकाज का कोई स्थिरधरू न रहने से राजाओं और राजपुत्रों में

शोचनीय अवस्था थी। वास्तव में उस समय दुराचारी, लोभी और परापहारी ही राजसिंहासनों पर विराज रहे थे। युद्ध न होता, तो इनका नाश न होता और अर्जुन को जिस बात की शंका हुई थी कि युद्ध से क्षत्रिय-कुल का नाश होकर अधर्म का राज्य होगा, वही बात उस समय युद्ध के पहले से हो रही थी और यदि युद्ध न होता, तो वह बात इतनी बढ़ जाती कि धर्म का शायद नाम भी न रह जाता। इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया कि बुद्धि-वाद छोड़कर केवल अपने धर्म का पालन करो, धर्म का पालन करने से अधर्म कदापि नहीं हो सकता। और वही बात हुई। अधर्म में रत क्षत्रिय-राजाओं का युद्ध में नाश हुआ और युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, अजात-शत्रु और धर्मावतार का साम्राज्य समस्त देश में स्थापित हो गया। श्रीकृष्ण के जीवन का हमें यही उद्देश्य मालूम होता है।

मिसेज एनी बेसट ने अपनी "अवतार" नामक अँगरेजी पुस्तक में यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि भारत का ज्ञानामृत सारे संसार को पिलाने के लिए और संसार तथा भारत का अविच्छिन्न संबंध स्थापित करने के लिए श्रीकृष्ण ने ऐसी परिस्थिति निर्माण की, जिससे भारत पर विदेशियों की चढ़ाइयाँ होने लगीं और अंत को भारत में उन लोगों का राज्य हुआ, जो आज यहाँ राज्य कर रहे हैं। इन बड़े-बड़े शब्दों के शृंगार से सजाकर मिसेज बेसट ने यही सीधी-सादी बात

प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो उठती है कि उनकी गति रोकी नहीं जा सकती और परिणाम यह होता है कि ऐसी धर्महीन राजनीति से प्रजा अत्यंत दुखित होती है। श्रीकृष्ण के समय में ऐसी ही अवस्था हुई थी और इसका प्रतिकार करने का बहुत कुछ प्रयत्न भी हो रहा था, जैसा कि वसुदेव के चरित्र से मालूम होता है। इन्हीं निवृत्ति-परायण लोगों को हाथ में लेकर श्रीकृष्ण ने प्रवृत्ति-परायण राजपुत्रों का संहार-साधन किया और धर्म-राज्य की स्थापना की।

यह केवल एक महान् राज्यक्रांति ही नहीं थी। फ्रांस की राज्यक्रांति केवल राजकीय राज्यक्रांति थी, इँग्लैंड की राज्यक्रांति केवल आर्थिक राज्यक्रांति थी। फ़्रांस की राज्यक्रांति से मिली हुई स्वाधीनता रक्त की नदियों के साथ बह गई, इँग्लैंड की राज्यक्रांति ने कोठीवालशाही का साम्राज्य स्थापित किया, पर श्रीकृष्ण ने जो राज्यक्रांति की, उसने आध्यात्मिक क्रांति की और हिन्दुस्तान को एक आदर्श राष्ट्र बना दिया।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि उस समय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था थी, स्त्रियों में पातिव्रत-धर्म पूर्णता के साथ वर्तमान था, पर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिगड़ी हुई थी और शूद्रों, वैश्यों तथा स्त्रियों के सम्बन्ध में लोगों का ऐसा खयाल हो चला था कि इन्हें मोक्ष का अधिकार नहीं है। इसके साथ ही उपनिषदों के गहन विचारों के प्रचार से धार्मिक पुरुषों के अंतःकरण पर यह दृढ संस्कार हो चुका था कि संसार से

कहा है कि श्रीकृष्ण का अवतार इसलिए हुआ कि भारत में अँगरेज़ों का राज्य हो। परन्तु यह कथन केवल "मुरन्मस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी" वाली कहावत को ही चरितार्थ करता है। हाँ, इसमें चढ़ाइयों की जो बात लिखी है, वह बहुतों को भ्रम में डाल सकती है और बहुतेरों का ऐसा ख़याल हो सकता है कि उस भारतीय युद्ध का ही यह परिणाम हुआ कि इस देश पर विदेशी सेनाएँ आक्रमण करने लगीं, परन्तु यह ख़याल बिलकुल ग़लत है। इसके विपरीत, यदि वह युद्ध न होता, तो उस समय के धर्म-भ्रष्ट राजपुत्र अपने दुराचार, लोभ, परापहार और अन्तःकलह से देश को किस गड्ढे में ढकेल देते, उसकी कल्पना करना भी कठिन है। श्रीकृष्ण ने उन राजपुत्रों का ससैन्य संहार करके धर्म-राज्य की स्थापना की। उस धर्मराज्य का यह प्रभाव था कि सम्राट् युधिष्ठिर के पश्चात् परीक्षित ने कलि को बाँध रखा था, अर्थात् अधर्म से धर्म की रक्षा की थी। यदि श्रीकृष्ण ने भारतीय युद्ध कराकर धर्म-राज्य न स्थापित किया होता, तो भारत का दासत्व-काल आने में देर न लगती। उस युद्ध के बाद ढाई सहस्र वर्ष तक भारत में यवनों के पैर नहीं पड़ सके, यह उसी धर्म-राज्य का प्रताप था। यवनों की चढ़ाइयाँ आरम्भ होने के बाद भी दो हजार वर्ष तक भारत के क्षत्रिय-कुल में अपनी मातृभूमि की रक्षा करने की सामर्थ्य थी—चन्द्रगुप्त, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य आदि अनेक

अलग होना ही मोक्ष का मार्ग है। श्रीकृष्ण ने जो धार्मिक क्रांति की, वह इन्हीं विचारों से की और वह क्रांति बड़ी ही जबर्दस्त थी। श्रीकृष्ण उन्हीं शूद्रों और वैश्यों में पले थे, जिनकी समाज में कोई प्रतिष्ठा न थी। श्रीकृष्ण ने उन्हें अपना लिया और उनके सरल हृदयों में भक्ति-भाव का सचार कर दिया। वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए गोपों की स्त्रियाँ दौड़ी जाती थीं और श्रीकृष्ण उन्हें भगवद्भक्ति का उपदेश देते थे। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था उन्होंने अपने अधिकार-युक्त उपदेश से फिर से बाँध दी और निवृत्ति-परायण पुरुषों को उनके सासारिक कर्तव्य और प्रवृत्ति-परायण पुरुषों को उनके पारलौकिक कर्तव्य बतलाये। इस प्रकार सारे समाज को फिर से सगठित कर दिया। श्रीकृष्ण का सारा जीवन केवल सहार में ही नहीं बीता, नित्य नये शत्रुओं से सामना करना और उन्हें स्वर्ग का रास्ता दिखा देना, यह जिस प्रकार उनका नित्य कार्य-क्रम था, उसी प्रकार धर्म का प्रचार करना, जिज्ञासुओं को वेदात के गूढ तत्त्व समझाना और भक्तों को उपदेशामृत से तृप्त करना भी उनका नित्य कार्य-क्रम था। उस समय उनके मुकाबले का जिस प्रकार कोई शूर-वीर योद्धा नहीं था, उसी प्रकार कोई वैसा धर्म-वेत्ता और धर्मोपदेशक भी न था। श्रीकृष्ण धर्म सस्थापक थे। और उन्होंने धार्मिक क्रांति करके जिन धर्म-सिद्धांतों की स्थापना की है, उनका श्रीमद्भगवद्गीता में समावेश हुआ है। यह ग्रंथ अद्वितीय

अलौकिक पुरुष बराबर अवतीर्ण होकर स्वदेश की रक्षा करते रहे। यह उसी धर्म-राज्य का प्रताप था, जो भारतीय युद्ध के बाद साढे चार सहस्र वर्ष तक दिग्दिगंत में भारत की कीर्ति-पताका फहराती रही और दूर-दूर देशों के लोग यहाँ आकर धर्म की शिक्षा पाते रहे। भारत ससार का शिक्षा-गुरु था। भारत में धर्म था, सत्य था, वीरता थी और ये सब बाते अलौकिक मात्रा में थीं। चीनी यात्री ये सब बातें अपने ग्रंथों में लिख गये हैं। "भारत में उस समय कोई झूठ नहीं बोलता था" यह पढ कर आज आश्चर्य होता है, पर यह श्रीकृष्ण के उस धर्म-राज्य का ही प्रभाव था।

श्रीकृष्ण-चरित्र की यही केंद्र-घटना है, जिसका यहाँ तक वर्णन हुआ। यही श्रीकृष्ण के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। अब यह देखिए कि किन साधनों को लेकर श्रीकृष्ण ने यह उद्देश्य सिद्ध किया। महान् उद्देश्य को लेकर जो महान् पुरुष ससार में अवतीर्ण होते हैं, उनमें वैसे ही महान् गुण भी होते हैं—उनका व्यक्तिगत चरित्र इतना उन्नत और दिव्य होता है कि सारा ससार उनकी ओर खिच जाता है। श्रीकृष्ण का व्यक्तिगत चरित्र इतना पवित्र और अलौकिक था कि उनके समकालीन भीष्म जैसे महान् तपस्वी भी उन्हें साक्षात् ईश्वर का अवतार मानते थे और दुर्योधन जैसे दुष्टात्मा भी उन्हें नि स्पृह, सत्य-प्रतिज्ञ और परोपकारी महात्मा जानते

है और उस धार्मिक क्रांति का परिचायक है। आज भारत-वर्ष में सनातनधर्म के जो-जो सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उनकी आधार-भूता प्रस्थान-त्रयी में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान है। श्रीकृष्ण की उस आध्यात्मिक क्रांति का प्रकाश हमें केवल साढे चार हजार वर्ष तक ही नहीं, बल्कि आज भी समस्त हिन्दू-जगत् पर प्रखरता के साथ फैला हुआ दिखाई देता है और यह कहना व्यर्थ न होगा कि जब तक हिंदू-जाति जीती रहेगी, तब तक श्रीकृष्ण का धर्मोपदेश इसी प्रकार दीप्तिमान् रहेगा। प्रत्युत यह भी आशा की जा सकती है कि धीरे-धीरे श्रीकृष्ण का प्रकाश सारे संसार पर फैलेगा, क्योंकि भगवद्गीता ग्रंथ ऐसा ही अलौकिक है। लोकमान्य तिलक का ज्ञानोत्तर कर्म-वाद, पूज्यपाद शंकराचार्य का ज्ञानोत्तर कर्म संन्यास और अद्वैत-वाद, उसी प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि सब मतों का आधार यही श्रीकृष्ण का उपदेश है और महात्मा गांधी का अहिंसावाद भी इसी उपदेश का परिणाम है।

श्रीमद्भगवद्गीता ने ही पहले-पहल स्त्रियों और शूद्रों के मोक्षाधिकार का विधान किया है और सबके लिए भक्ति-मार्ग का द्वार खोल दिया है। यों तो संसार में कोई वस्तु नई नहीं है, पर भक्ति-मार्ग के प्रवर्त्तक श्रीकृष्ण ही हुए हैं और आज इस मार्ग का जितना अवलंबन होता है, उतना और किसी मार्ग का नहीं। यह मार्ग सबके लिए सुगम भी है। भगवद्गीता की यह एक विशेषता है। दूसरी विशेषता प्रवृत्ति

थे। दुर्योधन श्रीकृष्ण से सहायता माँगने गया था, इससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है।

श्रीकृष्ण-चरित्र पर आक्षेप

श्रीकृष्ण के ऐसे निष्कलङ्क चरित्र पर लोगों ने दो प्रकार के दोषों का आरोपण किया है। एक दोष तो कपटाचरण का है और दूसरा व्यभिचार का। परन्तु ये दोनों ही आक्षेप निर्मूल हैं।

कपटाचरण का जो आक्षेप है, उसका एक आधार द्रोणाचार्य के वध की कथा है। श्रीकृष्ण ने ही अश्वत्थामा के मारे जाने की झूठी खबर उड़ाई और युधिष्ठिर से मिथ्या-भाषण कराया। रण-नीति या कूट-नीति के विचार से इसमें कोई निंदनीय बात नहीं हुई। पर इससे श्रीकृष्ण पर मिथ्याभाषी या कपटाचारी होने का दोष नहीं लग सकता, क्योंकि जिस अवस्था में अश्वत्थामा के मारे जाने की अफवाह उड़ाई गई थी, वह अवस्था ऐसी थी कि द्रोणाचार्य स्वयं धर्म-युद्ध के विरुद्ध उन लोगों पर अस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे, जो अस्त्र चलाना नहीं जानते थे, और यह स्पष्ट दिखाई देता था कि यदि द्रोणाचार्य का वध न हुआ, तो सारी पांडव-सेना का संहार हो जायगा। सत्य-भाषण करना तो एक साधारण नियम है और सत्य ही धर्म का आधार है, पर इस नियम में श्रीकृष्ण ने पाँच अपवाद-स्थान माने हैं। इन पाँच अपवाद-स्थानों के

और निवृत्ति का नियन्त्रण है। भगवद्गीता यह नहीं बतलाती कि ईश्वर को भूलकर या ईश्वर के नाम पर संसार के सब सुख लूटते रहो और यह भी नहीं बतलाती कि संसार को छोड़कर जंगल में चले जाओ। गीता यह बतलाती है कि कर्म छोड़ने से नहीं छुटता, कर्म करना ही पड़ता है। कर्म-सातत्य का अबाधित नियम बतलाकर श्रीकृष्ण फल-त्याग-पूर्वक कर्म करने का उपदेश देते हैं। निवृत्ति-परायण लोगों को इस प्रकार कर्म-मार्ग में प्रवृत्त करके श्रीकृष्ण ने समाज-रक्षा की व्यवस्था की। फलाशा छोड़कर कोई कैसे कर्म कर सकता है? इस शंका का श्रीकृष्ण ने पूर्ण समाधान किया है। फलाशा छोड़कर कर्म करो, फल तुम्हारे हाथ में नहीं है, कर्म को तुम अकेले नहीं करते—अधिष्ठान, कर्ता, करण, प्रकृति की विविध चेष्टा और दैव, इन सबके संयोग से कर्म होता है और इन सबकी योजना करनेवाला ईश्वर ही तुम्हें कर्म में नियोजित करता है। इसलिए उसी परमेश्वर की आज्ञा का कड़ा पालन करना तुम्हारा धर्म है। इसलिए ईश्वर को सब फल अर्पण कर दो। इस प्रकार की ईश्वरार्पण-बुद्धि से भक्ति-पूर्वक कर्म-योग का अवलंबन करना ही श्रीमद्भगवद्गीता का सिद्धांत है और इस सिद्धांत को श्रीकृष्ण ने अपने आचरण और उपदेश से स्थापित किया है। किसी शास्त्र का, किसी मत का, उन्होंने विरोध नहीं किया। उन्होंने सब [illegible] का [illegible] लिया और यह मत स्थापित किया कि चाहे कोई किसी मार्ग

अतिरिक्त और किसी स्थान में झूठ बोलना या कपटाचरण करना पाप है। इन पांच स्थानों में झूठ बोलना धर्म चाहे न हो, पर पाप नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण पर मिथ्या-भाषण या कपटाचरण का आक्षेप नहीं किया जा सकता। यही नहीं, बल्कि श्रीकृष्ण आदर्श सत्यवादी थे और उनके सत्य के प्रताप से ही उत्तरा का मृत पुत्र फिर से जीवित हो उठा था। श्रीकृष्ण ने एक साधारण मनुष्य को शक्तियों से ही सब काम किये हैं, कहीं अमानुष और अननुभूत शक्ति का प्रयोग नहीं किया। इसलिए उन्होंने अफवाह उड़ाकर द्रोण का वध कराया, पर उनके सत्य का इतना बल था कि उससे अभिमन्यु का बालक जी उठा। इतना लिखने के पश्चात् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं रहती कि श्रीकृष्ण ने जो भीष्मजी को घिरवाकर मरवाया, उसमे भी श्रीकृष्ण ने कोई अनुचित कार्य नहीं किया, क्योंकि अर्जुन और भीष्म का वह द्वंद्व-युद्ध नहीं था, सहत-संग्राम हो रहा था और सहत-संग्राम में, जहाँ दोनों ओर की सेनाएँ एक दूसरी का केवल संहार कर रही थीं, वहाँ कहीं एक वीर ने चार वीरों को मारा तो क्या और चार वीरों ने मिलकर एक को मारा तो क्या, उससे धर्म युद्ध के नियमों में बाधा नहीं पड़ती। यदि भीष्मजी को घेरकर चारों ओर से उन पर बाणों की वर्षा करना अनुचित होता, तो पांडवों को सात अक्षौहिणी सेना के साथ कौरवों का ग्यारह अक्षौहिणी सेना लेकर युद्ध करना और भी अनुचित

से क्यों न जाय, पर सब ईश्वर की ओर ही जा रहे हैं। इस उपदेश में बाइबल या कुरान की अपेक्षा कितनी अधिक उदारता है। वास्तव में श्रीकृष्ण सारे संसार के सुख के लिए ही ऐसी व्यवस्था बाँध गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में संसार के सब आध्यात्मिक सिद्धांतों का विचार हुआ है और भक्तिपूर्वक ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करने का सिद्धांत ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य के मोक्ष का इतना सुलभ, स्वतंत्र और श्रेष्ठ सिद्धांत श्रीकृष्ण ने ही स्थापित किया और धीरे-धीरे संसार इसी सिद्धांत की ओर झुक रहा है।

श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में इस प्रकार धर्मराज्य स्थापित कर एक नवीन युग प्रवर्तित कर दिया। श्रीकृष्ण ने यह लीला कलियुग के आरंभ में की थी। मानो इस कलिकाल में होनेवाले दुराचारों का दृश्य दिखाकर उन्होंने यह भी बतला दिया कि ईश्वर इस प्रकार उन दुराचारों का नाश करके सदाचार स्थापित करेंगे और अधर्म का नाश करके धर्म की रक्षा करेंगे। श्रीकृष्ण-चरित्र कलियुग में ईश्वर की लीला का वर्णन है। कलिकाल में अनेक अत्याचार और दुराचार होंगे, दुष्टों का प्रभुत्व होगा और धर्म-परायण पुरुषों को बहुत कष्ट होगा। इसलिए बार-बार ईश्वर को अवतार लेने पड़ेंगे। इसी लिए श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रतिज्ञा की है कि जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ जाता है, तब-तब मैं आता हूँ।

होता। इसलिए सहत-युद्ध में ऐसी बातों का विचार नहीं किया जाता। शिखडी को आगे करके पांडव इसी लिए लड रहे थे, क्योंकि उन्हें मालूम था, कि शिखडी पर भीष्म वाण नहीं छोडेंगे। पर सहत-युद्ध में इसे भी अनुचित नहीं कह सकते।

दूसरा आक्षेप व्यभिचार का है जो बिलकुल ही निराधार है। श्रीकृष्ण यदि व्यभिचारी होते, तो वे ऐसे बलिष्ठ न होते, जैसे कि थे। उनके मुखमडल पर वह अलौकिक तेज न होता, जो कि था। वे कस की रग-भूमि में उतरकर चाणूर का मर्दन न कर सकते—धर्म-राज्य की स्थापना तो बहुत दूर की बात है। श्रीकृष्ण यदि व्यभिचारी होते, तो रुक्मिणी-स्वयवर के अवसर पर दतवक्र ने उनके सदाचार की जो प्रशसा की है, वह न की होती और जरासध, रुक्मी, शिशुपाल आदि ने वह प्रशसा चुपचाप न सुन ली होती। उसी प्रकार राजसूय-यज्ञ में जहाँ शिशुपाल ने श्रीकृष्ण को दुनिया भर की गालियाँ सुनाई हैं, वहाँ तो वह श्रीकृष्ण को व्यभिचारी कहने से कभी न चूकता। कौरवों की सभा में द्रौपदी ने जब द्वारकावासी श्रीकृष्ण का नाम स्मरण किया है, तब उसने कृष्ण को 'महायोगिन्'। 'विश्वभावन'। आदि नामों से पुकारा है। श्रीकृष्ण व्यभिचारी होते, तो सकट-काल में द्रौपदी को उनका स्मरण न होता और उस स्मरण का कुछ फल भी न होता। इन बातों से स्पष्ट है कि यह आक्षेप

साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश कर धर्म स्थापित करने के लिए मैं हर युग में अवतार लेता हूँ।

तो क्या श्रीकृष्ण ईश्वर थे ? हाँ, उनका चरित्र पाठ करने से यही मालूम होता है कि वे ईश्वर के पूर्णावतार थे। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में ईश्वर वास करते हैं, पर श्रीकृष्ण के शरीर-द्वारा वे अपनी सोलहों कलाओं से प्रकाशमान हुए थे। श्रीकृष्ण एक शरीर धारण किये हुए थे, पर उस शरीर की उन्हें सुध नहीं थी, उनकी आत्मा सारे विश्व में व्याप्त थी। इसी लिए उनका नाम विश्वात्मा है और उनका स्थान भक्तों का हृदय है।

—लक्ष्मण नारायण गर्दे



सर्वथा निराधार है। बात यह है कि, श्रीकृष्ण अत्यत सुदर थे और श्रीमद्भागवतकार ने उनकी सुदरता का वर्णन "स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्" कहकर किया है। सभव है, इसी "मूर्त्तिमान कामदेव" की कुछ लीला वर्णन करने के लिए कवियो ने श्रीकृष्ण के काम-विलास की कल्पना कर ली हो। परतु उस काम-विलास में भी यह ख़ूबी है कि वर्णन तो शृगार का है, पर अर्थ उसका वैराग्य है। उदाहरणार्थ, गोपियो का वस्त्र-ग्रहण। ये गोपियाँ जब अपने वस्त्र उतार यमुना में नहाने को उतरीं, तब श्रीकृष्ण उन वस्त्रों को लेकर एक पेड पर जा बैठे। चित्रकारो ने इस घटना के जो चित्र बनाये हैं, वे बिलकुल अशुद्ध हैं। उन्होंने यह ख़याल नहीं किया कि वे गोपियाँ युवती नहीं, बल्कि कुमारिकाएँ थीं। दूसरी बात यह कि यह कथा लिखने में श्रीमद्भागवतकार का कुछ और ही अभिप्राय है। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं, गोपियाँ जीवात्मा हैं, उनके वस्त्र उनके शरीर हैं और गोपियाँ शरीर छोडकर भगवान् में लीन हो रही हैं। श्रीकृष्ण की शृगार-लीला में इसी प्रकार सर्वत्र वैराग्य अभिप्रेत है, पर इस गूढ रहस्य को न समझने से ही मूर्ख लोग निष्कलक श्रीकृष्ण पर कलक आरोपित करते हैं। यथार्थ में श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का जो भाव था, वह अत्यत पवित्र था।

श्रीकृष्ण का चरित्र अत्यत पवित्र और निष्कलंक था। वे प्रेमी थे, रसिक थे और अपनी मधुर मुरली की तान से

गोपों, गोपियों और गौओं को रिझाते थे। दीन दुर्बलों की सहायता और दुष्टों का दमन करना तो उनका बचपन से ही स्वभाव था। खिलाड़ियों के साथ खेलना, हरि का गुणगान करनेवालों के साथ भजन करना, दुष्टों के साथ लड़ना, सबसे प्रेम करना, ईश्वर-भक्तों को उपदेश देना, दीनों को दान देना, अतिथियों का सत्कार करना, प्रेमियों से प्रेम की बातें करना, यही हँसमुख श्रीकृष्ण का नित्य का कार्यक्रम था। रंग-महल में उनकी जो मधुर मुसक्यान आनन्द छा देती थी वही रण भूमि में भी दिखाई देती थी। श्रीकृष्ण सर्वत्र एकरस थे। दुःख में भी वे हँसते रहते थे। सुख और दुःख उनके लिए बराबर थे। नेपोलियन के विषय में कहा जाता है कि वे रण-भूमि में, संग्राम होते रहने की हालत में भी, तोप के पीछे लेट जाते और दो घंटे नींद ले लेते थे। नेपोलियन का जीवन ही युद्ध जीवन था। युद्ध में ही सोना, युद्ध में ही खाना-पीना, युद्ध में ही सब काम करना—यही उनके जीवन का अभ्यास था। पर श्रीकृष्ण में नेपोलियन की तरह निश्चित होकर रण-भूमि में लेटने की ही केवल सामर्थ्य नहीं थी, प्रत्युत उनकी सामर्थ्य तो उससे भी अधिक अलौकिक थी। उनके चित्त में चंचलता का कोई चिह्न ही न था। नेपोलियन को नींद लेने के लिए लेटना पड़ता था, पर श्रीकृष्ण को उसकी भी ज़रूरत न थी। वे न कभी थकते थे और न उन्हें कभी विश्राम लेने की आवश्यकता पड़ती थी। वे अहर्निश

(२) भगवान् बुद्धदेव

बुद्ध का जन्म

गौतम बुद्ध का जन्म कब हुआ तथा उनके निर्वाण का समय क्या है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। डाक्टर फ्लीट तथा अन्य विद्वानों ने बुद्ध का निर्वाण-काल ईसा के पूर्व ४८७ वर्ष माना है। निर्वाण के समय बुद्ध अस्सी वर्ष के थे, अतएव उनका जन्म-काल ईसा के ५६७ वर्ष पूर्व निश्चित होता है। कहा जाता है कि अंतिम बार जन्म लेने के पहले बुद्ध भगवान् प्राय ५५० बार पशु, पक्षी तथा मनुष्य के रूप में जन्म ले चुके थे। बुद्ध के इन जन्मों का हाल उन कथाओं में दिया है, जो "जातक" नाम से प्रचलित हैं। अंतिम बार जन्म लेने के पूर्व बुद्ध भगवान् "तुषित" नाम के स्वर्ग मे देव के रूप में निवास करते थे। जब इस पृथ्वी पर उनके पुनर्जन्म का समय समीप आया, तब वे बहुत दिनों तक यह विचार करते रहे कि कौन मनुष्य ऐसा योग्य है जिसके यहाँ हम जन्म लें। अंत में उन्होंने निश्चय किया कि शाक्य-वंश के राजा शुद्धोदन की पत्नी मायादेवी के गर्भ में जन्म लेना चाहिए। इस निश्चय के अनुसार बुद्ध ने "तुषित" स्वर्ग से उतरकर शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में,

सब कामों के सूत्र चलाते थे, पर चिंता या दुःख का कोई चिह्न उनके चेहरे पर नहीं दिखाई देता था। वे हँसते ही रहते थे। उस हँसी में बड़ी अद्भुत सामर्थ्य थी। घटोत्कच के मारे जाने पर पांडव-सेना में शोक छा गया, पर श्रीकृष्ण हँसते थे और उस हँसी ने पांडवों का शोक भुला दिया। श्रीकृष्ण शूर थे, तेजस्वी थे, सुन्दर थे, सब गुणों के आकर थे, पर सबसे बड़ी बात जो उनमें थी, वह यह थी कि अपनी प्रकृति को उन्होंने जान लिया था। प्रकृति के वे प्रभु थे। वे परम ज्ञानी थे और इसी से लोग उन्हें ईश्वर या ईश्वर का अवतार मानते थे। उनके मुख से निकले हुए वचन को सब लोग ईश्वर का वचन समझते थे और उनके वचन से ही सब काम होता था। उनका वचन कभी मिथ्या न होगा, यह लोगों का दृढ विश्वास था, यद्यपि मदांध राजपुत्रों की आँखों पर परदा पड़ा हुआ था और वे श्रीकृष्ण की योग-माया को नहीं समझ पाते थे। श्रीकृष्ण ने जो धर्म-राज्य स्थापित किया, वह अपने इसी दिव्य और अलौकिक चरित्र के बल पर स्थापित किया।

श्रीकृष्ण का चरित्र जैसा दिव्य था, उस काल की परिस्थिति भी उनके उस दिव्य चरित्र के लिए स्वभावत ही अनुकूल थी। यह एक महान् ऐतिहासिक तत्त्व है कि जिन लोगों में जैसे महान् पुरुष अवतीर्ण होते हैं, वे लोग भी इतने योग्य होते हैं कि उन महान् विभूतियों का आदर कर सकें और उनमें पृथक्-पृथक् वे सब गुण होते हैं, जिनका समुच्चय उन

जो नेपाल की तराई में है, मायादेवी के गर्भ में श्वेत हस्ती के रूप में प्रवेश किया। प्रसवकाल समीप आने पर मायादेवी ने राजा से अपने मैके जाने की इच्छा प्रकट की। जब वे राजा की आज्ञा लेकर अपने मैके जा रही थीं तब रास्ते में, लुंबिनी नामक उपवन में, उन्हें प्रसव-वेदना हुई और वे एक "शाल" वृक्ष की डाल पकडकर खडी हो गईं। खडे होते ही माया की कोख से बुद्ध भगवान् का जन्म हो गया। जन्म के पाँचवें दिन राजपुरोहित विश्वामित्र ने इस शिशु का नाम सिद्धार्थ रखा। पर बुद्ध के गोत्र का नाम गौतम था। इनकी माता मायादेवी इनके जन्म के सातवें ही दिन स्वर्ग-वासिनी हुईं, इसलिए इनकी मौसी तथा विमाता प्रजावती ने इनका पालन-पोषण किया। कहते हैं, जिस दिन बुद्ध ने अवतार लिया उसी दिन उनकी भावी पत्नी "यशोधरा", उनके सारथी "छदक", उनके घोडे "कठक" तथा उनके प्रधान शिष्य "आनद" ने भी जन्म ग्रहण किया था। कहा जाता है कि ये सब बुद्ध के पूर्व जन्मों में, भिन्न-भिन्न रूपों में, उनके साथ रह चुके थे।

"लुंबिनी" उपवन से बुद्ध बडी धूमधाम के साथ कपिल-वस्तु में लाये गये और ज्योतिषियो ने जन्म-पत्र बनाकर फला-फल कहना आरभ किया। कोई ज्योतिषी कहता कि यह बालक चक्रवर्ती सम्राट् होगा। कोई कहता कि "सम्यक् सबुद्ध" होकर ससार का उद्धार करेगा। जो चिह्न इस बालक के

शरीर पर थे, उनसे दोनों ही बातें हो सकती थीं, क्योंकि चक्रवर्ती राजा और बुद्ध के चिह्न प्राय एक ही से होते हैं। इतने में योग-शक्ति से यह जानकर कि बुद्ध ने कपिलवस्तु में अवतार लिया है, ऋषि असित उनके दर्शन करने आये और भविष्यद्वाणी की कि यह बालक एक दिन बुद्ध होगा। राजा शुद्धोदन को इस बात का विश्वास न हुआ कि यह राजकुमार राज-पाट और धन-वैभव को छोड़कर एक तपस्वी का जीवन पसंद करेगा। तथापि राजकुमार को संसार में लिप्त रखने के लिए उन्होंने हर प्रकार के भोग-विलास की सामग्री उसके लिए इकट्ठी की, जिससे राजकुमार का मन वैराग्य की ओर कभी प्रवृत्त ही न हो। जब राजा ने ऋषि असित से पूछा कि किन कारणों से राजकुमार के मन में राज्य की ओर से वैराग्य उत्पन्न होगा, तब ऋषि ने कहा कि चार बातें इस वैराग्य का कारण होंगी—(१) एक वृद्ध मनुष्य, (२) एक रोगी मनुष्य, (३) एक मृतक तथा (४) एक भिक्षु। अत-एव राजा ने इस बात की बड़ी चौकसी रखी कि ये चारों चीजें राजकुमार की आँखों के सामने न आने पावें।

बुद्ध का विवाह और वैराग्योत्पत्ति

जब कुमार विद्या समाप्त कर चुके, तब राजा शुद्धोदन ने गुरुकुल में जाकर उनका समावर्तन संस्कार कराया और गुरु विश्वामित्र को प्रचुर दक्षिणा दी। अनंतर गाजे बाजे के साथ

उस युवक से कहा—"हे यश, यहाँ कोई दुःख और कोई विपत्ति नहीं है। आओ, यहाँ आकर बैठो। मैं तुम्हें सत्य का मार्ग बतलाऊँगा।" तब यश ने गौतम बुद्ध के मुख से सत्य-ज्ञान का उपदेश सुना। यश की स्त्री और माता-पिता सब उसे न पाकर बुद्ध के पास आये। वहाँ उन लोगों ने भी पवित्र सत्य-ज्ञान का उपदेश सुना, और तब वे लोग भी बुद्ध के गृहस्थ-शिष्य हो गये।

बौद्ध-संघ का संघटन

काशी आने के पाँच महीने के अंदर बुद्ध के साठ शिष्य हो गये। उन्होंने उन शिष्यों को संघ में संघटित करके भिन्न-भिन्न दिशाओं में सत्य का प्रचार करने के लिए यह कहकर भेजा—"हे भिक्षुओ, अब तुम लोग जाओ और संसार की भलाई तथा उपकार के लिए भ्रमण करो। तुममें से कोई दो भी एक ही मार्ग से न जायँ। हे भिक्षुओ, तुम लोग उस सिद्धान्त का प्रचार करो जो आदि में उत्तम है, मध्य में उत्तम है और अंत में उत्तम है। जाओ, पवित्र जीवन का प्रचार करो।" तब से किसी धर्म-प्रचारक ने अपने धर्म का प्रचार पृथ्वी के ओर-छोर तक करने में उतना अधिक पवित्र उत्साह नहीं दिखलाया, जितना गौतम बुद्ध के अनुयायियों ने अपने धर्म का प्रचार करने में दिखलाया है। इसके बाद भगवान् बुद्ध उरुवेला (उरुबिल्व) ग्राम को गये।

कुमार सिद्धार्थ कपिलवस्तु लाये गये। वे एकांत-प्रेमी थे और खेल-कूद, आमोद-प्रमोद आदि में कम सम्मिलित होते थे। वे सदा ध्यान में मग्न रहा करते थे और यही सोचा करते थे कि मनुष्य त्रिविध तापों से किस तरह छुटकारा पा सकता है। राजा शुद्धोदन कुमार को यह दशा देख महर्षि असित के वचनों का स्मरण करके बहुत घबराये, और जब अन्य प्रकार से कुमार का मन वैराग्य की ओर से हटता न देखा, तब उन्होंने उन्हें विवाह-बधन में जकड़ने का मनसूबा बाँधा।

सोलह वर्ष की उम्र में राजकुमार का विवाह पडोस के कोलिय वश की राजकुमारी यशोधरा से कर दिया गया। राजकुमार सदा महलों के अंदर रखे जाते थे, क्योंकि उनके पिता को यह भविष्यद्-वाणी याद थी कि राजकुमार राज्य त्यागकर वैराग्य ग्रहण करेंगे। जब राजकुमार उनतीस वर्ष के हुए, तब दैवी प्रेरणा से उन्होंने अपने सारथी को सैर के लिए महलों के बाहर रथ ले चलने को कहा। जब वे रथ पर चढकर महल के बाहर जा रहे थे, तब देवताओं ने उनके मन को वैराग्य की ओर प्रवृत्त करने के लिए एक बहुत ही जीर्णकाय बुड्ढे मनुष्य को उनके सामने भेजा। राजकुमार ने रथ हाँकने-वाले से पूछा—'यह कौन है ?'' सारथी ने उत्तर दिया—"यह वृद्ध मनुष्य है। हर एक प्राणी को एक न एक दिन ऐसा ही होना पडता है।'' यह बात सुनकर राजकुमार के मन में ससार-सुख के प्रति अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न हुई। वहीं

काश्यप का धर्म-परिवर्तन

उरुवेला ग्राम में "काश्यप" नाम के तीन तपस्वी अपने शिष्यों के साथ रहते थे। वे वैदिक धर्म के अनुसार अग्नि की पूजा करते थे और बहुत प्रसिद्ध सन्यासी तथा दर्शनशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। बनारस में बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करने के बाद काश्यप के तपोवन में आये और काश्यप तथा उनके शिष्यों को अपने धर्म में लाने के लिए उन्हें अपने धर्म का उपदेश देने लगे। किंतु काश्यप अपने विचारों पर बहुत दृढ़ थे, अतएव उन्हें अपने धर्म में लाने के लिए बुद्ध को अपनी अनेक सिद्धियाँ और आश्चर्य-जनक दृश्य दिखाने पड़े। वहाँ तपोवन का एक अग्न्यागार था, जिसमें अग्नि रखी रहती थी। उसमें एक भयंकर काला साँप रहता था। काश्यप तथा अन्य ब्राह्मण उस साँप के डर के मारे उस घर में न जाते थे। उन ब्राह्मणों को अपनी शक्ति का परिचय देने के लिए बुद्ध ने उस अग्न्यागार में रहने की आज्ञा माँगी। काश्यप ने यह समझकर कि बुद्ध की जान व्यर्थ जायगी, उन्हें उस आगार में रहने की आज्ञा न दी। अंत में बहुत कहने सुनने पर बुद्ध को उस गृह में रहने की आज्ञा मिली। बुद्ध उसके अंदर आसन जमाकर बैठ गये। बैठते ही उनके शरीर से ऐसी ज्योति निकली कि साँप डर गया और बुद्ध के वशीभूत होकर उनके भिक्षा-पात्र में छिपकर बैठ गया। ब्राह्मणों ने बुद्ध का यह आश्चर्य-जनक प्रकाश देखकर समझा कि

से वे महल में लौट आये। इसी तरह दूसरे और तीसरे दिन एक रोगी और एक मुरदा राजकुमार को दिखलाई दिया। राजकुमार ने उसी तरह सारथी से प्रश्न किया, जिसके उत्तर में उसने राजकुमार से जो बात उन दोनों के सबंध में कही, उससे राजकुमार के मन में और भी वैराग्य बढ़ा। चौथी बार, जब वे उपवन को जा रहे थे, रास्ते में उन्हें एक काषाय-वस्त्र-धारी भिक्षु दिखलाई पड़ा। जब उन्होंने सारथी से पूछा कि यह कौन है, तब उसने कहा कि यह भिक्षु है, जो सांसारिक सुख और ऐश्वर्य को त्यागकर केवल भिक्षा से अपना उदर-पालन करता हुआ संसार के उपकार में जीवन व्यतीत कर रहा है। उसी समय राजकुमार के मन में संसार का त्याग करके भिक्षु बनने की प्रबल कामना जाग्रत हुई।

राहुल का जन्म

कुमार के अट्ठाईसवें वर्ष राजकुमारी यशोधरा गर्भवती हुई और उनके गर्भ से यथासमय राहुल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन्हीं दिनों उनके मन में सन्यास ग्रहण करने का विचार प्रबल हो रहा था। ऋषि-ऋण तथा देव-ऋण से तो कुमार पहले ही उऋण हो चुके थे, पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनकर उन्होंने अपने को पितृ-ऋण से भी मुक्त समझा। अब वे तीनों ऋणों से मुक्त होकर अपने आपको मोक्ष पद का अधिकारी समझने लगे। इस विचार के उठते ही उनके मुख पर सोलहों कलाओं

मकान में आग लगी है। अतएव वे आग बुझाने के लिए घड़ों में पानी ले-लेकर दौड़े। अंत में यह जानकर कि यह बुद्ध के शरीर से निकली हुई ज्योति है, वे बुद्ध के भक्त हो गये और काश्यप ने अपने शिष्यों के साथ बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया। इस घटना से बुद्ध की ख्याति चारों ओर फैल गई।

जन्मभूमि में बुद्ध का आगमन

अब बुद्ध भगवान् अपने शिष्यों को साथ लेकर मगध की राजधानी राजगृह की ओर चले। बुद्ध के आने का समाचार सुनकर मगध का राजा बिंबिसार बहुत से ब्राह्मणों और वैश्यों को साथ लेकर उनसे मिलने के लिए आया। पश्चात् बुद्ध का उपदेश सुनकर राजा अपने असंख्य अनुचरों के साथ बौद्ध मत का अनुयायी हो गया। इसी बीच में बुद्ध ने "सारिपुत्र" और "मौद्गलायन" नामक भिक्षुओं को भी शिष्य बनाकर उन्हें अपने सब शिष्यों में प्रधानता दी।

अब गौतम बुद्ध का यश उनकी जन्म-भूमि तक पहुँच गया था। अपने पुत्र का भारी यश सुनकर राजा शुद्धोदन ने कई दूतों को भेजकर उन्हें बुला भेजा। वे दो महीने तक पैदल चलकर संघ समेत कपिलवस्तु पहुँचे और उसी के निकट "न्यग्रोध" कानन में ठहरे। दूसरे दिन वे स्वयं नगर में भिक्षा माँगने के लिए निकले। इस समाचार से राज परिवार में बड़ा कोलाहल मचा और राजा वहाँ पधारकर बुद्ध से कहने

से पूर्ण आनंद-रूपी इंदु का उदय हुआ, किन्तु तत्काल ही पुत्रोत्पत्ति से उत्पन्न राग ने उनके वैराग्य से उत्पन्न आनंद पर आक्रमण किया और उनका सारा मानसिक सुख अंतर्धान हो गया। अतएव उनके मन में आया कि यह पुत्र राहु है, जिसने मेरे आनंद-चंद्र को ग्रस लिया। इसी से उन्होंने उसका नाम "राहुल" रखा।

महाभिनिष्क्रमण (गृह-त्याग)

उस रात्रि को बुद्ध एक बार अपनी स्त्री को देखने गये। वहाँ उन्होंने जगमगाते हुए दीपक के प्रकाश में बड़े सुख का दृश्य देखा। उनकी युवती पत्नी चारों ओर फूलों से घिरी हुई पड़ी थी, उसका एक हाथ बच्चे के सिर पर था। उनके हृदय में बड़ी अभिलाषा हुई कि सब सांसारिक सुखों को छोड़ने के पहले अंतिम बार अपने बच्चे को अपनी गोद में लें परन्तु वे ऐसा करने से इसलिए रुक गये कि कदाचित् बच्चे की माता जाग जाय और उस प्रियतमा की प्रार्थनायें कदाचित् मेरे हृदय को हिला दें और मेरे संकल्प में बाधा डाल दें। वे वहाँ से चुपचाप निकल गये। उसी एक क्षण में, उसी रात्रि के अंधकार में, उन्होंने सदा के लिए अपने धन, सम्मान और अधिकार, अपनी ऊँची मर्यादा और अपने "राजकुमार" नाम को, और सबसे बढ़कर अपनी प्यारी पत्नी की प्रीति और उसकी गोद में सोए हुए सुकुमार बच्चे के स्नेह

लगे—वत्स ! इस प्रकार भिक्षा माँगकर मुझे क्यों लज्जित करते हो ! क्या मैं संघ-समेत तुम्हारा सत्कार नहीं कर सकता ? बुद्ध ने उत्तर दिया कि महाराज, यह तो मेरा कुल-धर्म है, क्योंकि अब मैं अपने को राजकुलोत्पन्न न मानकर बौद्धकुल में जन्मा हुआ समझता हूँ। अनंतर महल में भगवान का संघ-समेत भोजन हुआ। वहाँ बुद्ध ने राज-परिवार तथा सेवकों को उपदेश भी दिया। इस उपदेश में पूरे राज-परिवार के सम्मिलित होने पर भी भगवान् की रानी यशोधरा न सम्मिलित हुई। उसका भाव समझकर तथा पिता की आज्ञा लेकर सारिपुत्र और मौद्गलायन के साथ भगवान् स्वयं यशोधरा के पास गये। वह भगवान् को सन्यासी के वेश में देख, परम विह्वल हो, उनके पैरों पर गिर पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी। भगवान् ने उसको आश्वासन देकर अनेक उपदेश दिये। अनंतर भगवान् के छोटे भाई नंद ने भी युवराज होना स्वीकार न करके बुद्ध से दीक्षा ग्रहण की। भगवान् के पुत्र राहुल ने भी ऐसा ही किया। यह देख राजा शुद्धोदन ने बहुत व्याकुल होकर भगवान् से आग्रह किया कि आगे से बिना माता-पिता की आज्ञा के कोई बालक सन्यासी न बनाया जाय। भगवान् ने यह बात मान ली और इसके अनुसार घोषणा भी प्रचारित कर दी।

बुद्ध की सौतेली माता महाप्रजावती तथा अन्य शाक्य-स्त्रियों ने ब्रह्मचर्य ग्रहण करके भिक्षुणी बनने की इच्छा प्रकट

को तिलांजलि दे दी। आधी रात के समय उन्होंने छदक नामक सेवक से कठक नामक अश्व मँगाकर और उस पर सवार होकर पूर्व दिशा का रास्ता लिया। मार्ग मे घने जगलों, सुनसान मैदानों और अनेक छोटे-मोटे नदी-नालों को पार करके वे कोलिय राज्य में पहुँचे और वहाँ से अनामा नदी के किनारे गये। वहाँ उन्होने अपने शरीर पर दो-एक साधारण वस्त्र रखकर शेष वस्त्राभूषण तथा अश्व छदक को देकर उसे हठ-पूर्वक कपिलवस्तु को वापस भेज दिया। फिर उन्होंने तलवार से अपनी शिखा काट डाली और आगे चल कर अपने बहुमूल्य वस्त्रों के बदले में साधारण वस्त्र ले लिये। उन्होने छदक के द्वारा अपने पिता को कहला भेजा कि मैं "बुद्ध" पद प्राप्त करके कपिलवस्तु में फिर आपके दर्शन करूँगा। उनके वियोग में शोक-विह्वल राज-परिवार रो-पीट-कर इसी वचन के सहारे किसी प्रकार बैठ रहा।

बुद्ध की तपस्या

गौतम सिद्धार्थ वैशाली पहुँचकर आडारकालाम नामक पडित के ब्रह्मचर्याश्रम में गये, जहाँ तीन सौ ब्रह्मचारी विद्याध्ययन करते थे। इसी पडित से गौतम ने ब्रह्मचर्याश्रम की दीक्षा ग्रहण की, पर इनकी शिक्षा से गौतम की आत्मा को शांति न प्राप्त हुई। अतएव आडारकालाम की आज्ञा लेकर उन्होंने राजगृह की ओर प्रस्थान किया। राजगृह में महाराज

की। भगवान् ने पहले तो उन्हें टाल दिया, पर उनके अत्यन्त आग्रह करने पर उनकी इच्छा पूरी कर दी। महाप्रजावती पहली स्त्री थी जिसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। छठे वर्ष महाराज बिंबिसार की पहिली महिषी क्षेमा तथा राहुल की माता यशोधरा ने भी दीक्षा ग्रहण की।

त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से अवतरण

लिखा है कि सातवें वर्ष बुद्ध भगवान् त्रयस्त्रिंश स्वर्ग को गये। बुद्ध के जन्म के सातवे ही दिन उनकी माता मायादेवी का देहान्त हो गया था। दूसरे जन्म में माया त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में, एक देवता के रूप में, पैदा हुई। अपनी माता को भी बौद्ध धर्म की दीक्षा देने के लिए बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग को गये और वहाँ तीन महीने रहकर उन्होंने माया को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। तीन महीने बाद जब पृथ्वी पर फिर बुद्ध के लौटने का समय हुआ, तब इन्द्र ने विश्वकर्मा से सोने की तीन सीढ़ियाँ बनाने को कहा। उन तीनों सीढ़ियों से बुद्ध तथा उनके साथ इन्द्र और ब्रह्मा सकाश्य (आधुनिक संकिसा, ज़िला फर्रुखाबाद) में उतरे। कुछ वर्ष हुए, वहाँ पर संयुक्त प्रांत की ऐतिहासिक समिति (यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी) की ओर से खुदाई भी कराई गई थी।

नालगिरि हाथी का दमन

बुद्ध का चचेरा भाई देवदत्त उनका यश और मान देखकर उनसे बहुत डाह करता था और अंदर ही अंदर द्वेष की आग

बिंबिसार ने गौतम को भिक्षा दी और उनके रूप, यौवन तथा गुणों को देखकर अपना भारी मगध-राज्य उन्हें अर्पित करना चाहा। पर बुद्ध ने उत्तर दिया कि यदि मुझे राज्य जैसे क्षण भंगुर पदार्थ की लालसा होती तो मैं अपने पिता ही का राज्य क्यों छोड़ता। यह सुनकर राजा लज्जित हुआ और बुद्धत्व प्राप्त करने पर गौतम को अपने यहाँ आने का निमंत्रण देकर महल को चला गया। उस समय राजगृह में रुद्रक नाम के एक प्रसिद्ध दार्शनिक रहते थे, जिनके आश्रम में सात सौ ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे। कुछ दिनों तक बुद्ध ने रुद्रक के यहाँ रहकर उनसे शिक्षा प्राप्त की। पर उनकी शिक्षा से भी बुद्ध को उस निर्वाण का मार्ग न मिला, जिसे वे प्राप्त करना चाहते थे। अतएव रुद्रक की आज्ञा लेकर वे आगे बढ़े। इस आश्रम के पाँच भिक्षु भी ज्ञान की खोज में गौतम के साथ हो लिये। ये छहों महात्मा भिक्षा ग्रहण करते हुए कई दिनों में गया पहुँचे। वहाँ गौतम ने सोचा कि सबसे पहले शारीरिक शुद्धता के लिए तपस्या करना आवश्यक है, क्योंकि बिना इसके चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। इस विचार से वे तपश्चर्या के योग्य स्थान ढूँढ़ने लगे, और वहाँ से थोड़ी दूर पर उरुबिल्व नामक ग्राम में निरञ्जना नदी के किनारे एक उपयुक्त स्थान पाकर वहीं घोर तपश्चर्या में लीन हो गये। छः वर्षों तक वे तपस्या करते रहे। पर जब उन्होंने देखा कि मामूली तपस्या से कुछ नहीं होता, तब उन्होंने कठोर से

लगे—वत्स ! इस प्रकार भिक्षा माँगकर मुझे क्यों लज्जित करते हो ! क्या मैं संघ-समेत तुम्हारा सत्कार नहीं कर सकता ? बुद्ध ने उत्तर दिया कि महाराज, यह तो मेरा कुल-धर्म है, क्योंकि अब मैं अपने को राजकुलोत्पन्न न मानकर बौद्धकुल में जन्मा हुआ समझता हूँ। अनंतर महल में भगवान् का संघ-समेत भोजन हुआ। वहीं बुद्ध ने राज-परिवार तथा सेवकों को उपदेश भी दिया। इस उपदेश में पूरे राज-परिवार के सम्मिलित होने पर भी भगवान् की रानी यशोधरा न सम्मिलित हुई। उसका भाव समझकर तथा पिता की आज्ञा लेकर सारिपुत्र और मौद्गलायन के साथ भगवान् स्वयं यशोधरा के पास गये। वह भगवान् को सन्यासी के वेश में देख, परम विह्वल हो, उनके पैरों पर गिर पड़ी और फूट-फूटकर रोने लगी। भगवान् ने उसको आश्वासन देकर अनेक उपदेश दिये। अनंतर भगवान् के छोटे भाई नंद ने भी युवराज होना स्वीकार न करके बुद्ध से दीक्षा ग्रहण की। भगवान् के पुत्र राहुल ने भी ऐसा ही किया। यह देख राजा शुद्धोदन ने बहुत व्याकुल होकर भगवान् से आग्रह किया कि आगे से बिना माता-पिता की आज्ञा के कोई बालक सन्यासी न बनाया जाय। भगवान् ने यह बात मान ली और इसके अनुसार घोषणा भी प्रचारित कर दी।

बुद्ध की सौतेली माता महाप्रजावती तथा अन्य शाक्य-स्त्रियों ने ब्रह्मचर्य ग्रहण करके भिक्षुणी बनने की इच्छा प्रकट

कठोर व्रत और उपवास करना आरंभ किया, यहाँ तक कि वे दिन में केवल एक दाना चावल का खाकर रहने लगे। इससे वे सूखकर काँटा हो गये और ऐसे बलहीन हुए कि एक बार थोड़े ही परिश्रम से मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

मार का आक्रमण और बुद्ध-पद की प्राप्ति

जब बुद्ध ने देखा कि व्रत तथा उपवास करने से और शरीर को कष्ट देने से आत्मिक ज्ञान नहीं हो सकता, तब वे पूर्ववत् भोजन करने लगे। इससे पाँच भिक्षु, जो उनके साथ रहते थे, उनको छोड़कर सारनाथ चले गये और वहाँ रहने लगे। बुद्ध आत्मिक ज्ञान के लिए बुद्ध-गया गये। जब वे "बोधि-वृक्ष" की ओर जा रहे थे, तब रास्ते में, उन्हें स्वस्तिक नाम का एक घसियारा मिला। उसने उन्हें कुछ घास भेंट की। बुद्ध ने घास की वह भेंट स्वीकृत कर ली। फिर वे पीपल के एक वृक्ष के नीचे (जो पीछे से "बोधि वृक्ष" के नाम से प्रसिद्ध हुआ) वह घास बिछाकर उस पर बैठ गये और ध्यान करने लगे। जब बुद्ध उस बोधि-वृक्ष के नीचे बैठे हुए समाधिस्थ थे और बुद्ध-पद प्राप्त करने को थे, तब "मार" (कामदेव) बहुत डरा। बौद्ध धर्म में "मार" का वही पद है, जो ईसाई धर्म में शैतान का है। उसने सोचा कि यदि इसे बुद्ध-पद प्राप्त हो गया, तो केवल यही संसार से मुक्त न हो जायगा, किंतु यह अनंत प्राणियों के लिए

अनुयायियों को तीर्थ-यात्रा के लिए जाना चाहिए। वे चार स्थान ये हैं—(१) "लुंबिनी" उपवन जहाँ बुद्ध ने जन्म लिया था, (२) "गया" जहाँ बुद्ध ने "बुद्ध पद" पाया था, (३) "सारनाथ" जहाँ बुद्ध ने प्रथम बार बौद्ध धर्म का उपदेश दिया था, और (४) "कुशीनगर" जहाँ उनका निर्वाण हुआ था। इस तरह अपने शिष्यों को उपदेश देते-देते बुद्ध निर्वाण पद को प्राप्त हो गये।

अंतिम संस्कार

बुद्ध का अंतिम संस्कार वैसे ही किया गया जैसे किसी चक्रवर्ती राजा का किया जाता है। उनका शव पाँच सौ बार कपड़ों की तहों से लपेटा गया। तब वह लोहे के एक सन्दूक में रखा गया, जो तेल से भर दिया गया। उसके ऊपर लोहे की दोहरी चद्दरें चढ़ाई गईं। यह सब इसलिए किया गया जिसमें बुद्ध के शरीर का अवशेष, शव के जलने के बाद, सुरक्षित मिल जाय। चारों ओर भिक्षु संघों को भगवान् के निर्वाण की सूचना दी गई। सातवें दिन अंत्येष्टि क्रिया के लिए शरीर चिता पर रखा गया। देश-देश से बौद्ध भिक्षु एकत्र हो चुके थे। अग्नि-संस्कार के थोड़े ही पहले महाकाश्यप ऋषि पाँच सौ शिष्यों के साथ वहाँ आये। उन्होंने चिता की तीन बार प्रदक्षिणा करके भगवान् के शरीर की पाद-वंदना की। अब अग्निसंस्कार किया गया और बात की बात में वह अमूल्य

निर्वाण का द्वार खोल देगा। फिर हमारा राज्य कहाँ रहेगा ? बस, उसने बुद्ध को अनेक प्रकार के लालच दिये, यहाँ तक कि उसने अपनी लडकियों को भी बुद्ध के सामने, उन्हें अपने वश में करने के लिए, भेजा। किंतु बुद्ध पर उनका कुछ भी असर न हुआ। तब मार ने अपनी सेना को बुद्ध पर आक्रमण करने की आज्ञा दी, जिसमें बुद्ध अपना आसन छोडकर भाग जायँ। इस पर बुद्ध ने पृथ्वी को छूकर शपथ की कि यदि मेरे पूर्व-जन्मो के पुण्य-कार्यों से इस आसन पर मेरा अधिकार हो, तो पृथ्वी मेरी ओर से इस बात को साक्षिणी हो। बुद्ध की इस मुद्रा को "भूमिस्पर्श-मुद्रा" कहते हैं। बुद्ध के ऐसा कहने पर पृथ्वी ने गरजकर अपनी स्वीकृति दी। इस पर मार और उसकी सेना दोनों हारकर भाग गये। इसी के दूसरे दिन बुद्ध को उस सत्य ज्ञान का प्रकाश दिखाई दिया, जिससे वे "बोधिसत्व" से "बुद्ध" पदवी को प्राप्त हुए।

बुद्ध का प्रथम उपदेश

"सम्यक् सबुद्ध" पद को प्राप्त होने पर बुद्ध सोचने लगे कि हम पहले किसे अपने धर्म का उपदेश करें। उनका ध्यान उन पाँच भिक्षुओं की ओर गया, जो उन पर अविश्वास करके उनका साथ छोडकर चले गये थे। अपने ध्यान-बल से यह जानकर कि वे इस समय मृगदाव (सारनाथ, बनारस)

और निर्वाण की प्राप्ति के लिए धर्म का दीपक प्रदीप्त करें। जो लोग ऐसा करेंगे, वही भिक्षुओं में अग्रगण्य होंगे। मेरे पीछे यदि कोई भिक्षु अथवा स्थविर तुम्हें किसी बात का उपदेश दे, तो मेरे सिद्धांतों से उस उपदेश का मिलान करके अनुकूल होने ही पर मानना, अन्यथा मत मानना।"

निर्वाण

इधर-उधर भ्रमण करते हुए जब बुद्ध भगवान् गया से कुशीनगर आ रहे थे, तब रास्ते में पावा ग्राम में चुंद नाम के एक लोहार ने उनको संघ-समेत भोजनार्थ निमंत्रण दिया। चुंद ने उनके सामने भात और सूअर का मांस परोसा। बुद्ध ने भोजन का तिरस्कार करना उचित न समझ मांस तो आपने ले लिया और दूसरी चीजें अपने शिष्यों को दे दीं। भगवान् का शरीर पहले से अस्वस्थ था। सूअर का मांस खाने से उनके पेट में दर्द हुआ और उन्हें आँव तथा लहू के दस्त आने लगे। कुशीनगर पहुँचते-पहुँचते वे बहुत कमजोर हो गये। वहाँ वे अपने शिष्यों के साथ एक उपवन में ठहरे। दो शाल-वृक्षों के नीचे बुद्ध की शय्या लगाई गई, जिसका सिरा उत्तर की ओर था। बुद्ध उस पर दाहिनी करवट लेटे। अंतिम समय आने के पहले वे प्रधान शिष्य आनंद को भविष्य में बौद्ध धर्म के प्रचार और उसके संगठन के विषय में उपदेश देते रहे। उन्होंने चार स्थान बतलाये जहाँ बौद्ध धर्म के

में हैं, बुद्ध वहाँ गये और पहली बार उन्हे अपने धर्म का उपदेश दिया। ये ही पाँचों बुद्ध के पहले शिष्य हुए। बुद्ध के जीवन की यह घटना "धर्मचक्रप्रवर्तन" के नाम से प्रसिद्ध है, अर्थात् बुद्ध ने पहली बार सारनाथ में अपने धर्म का पहिया चलाया था और बौद्ध धर्म का प्रचार वहीं से प्रारभ हुआ था। बुद्ध के प्रथम उपदेश का सारांश नीचे लिखा जाता है।

"हे भिक्षुओ, दो ऐसी बाते हैं, जो उन मनुष्यों को न करनी चाहिएँ, जिन्होंने ससार त्याग दिया है, अर्थात् एक तो उन वस्तुओं की आदत न डालनी चाहिए, जो मनोविकार और विशेषत कामासक्ति से उत्पन्न होती हैं, क्योंकि यह नीच, मिथ्या, अयोग्य और हानिकर मार्ग है। यह मार्ग केवल ससारी मनुष्यों के योग्य है। और दूसरे उन्हें अनेक दूसरी तपस्यायें भी न करनी चाहिएँ, क्योंकि वे दु खदायी, अयोग्य और हानिकर हैं। हे भिक्षुओ, इन दोनों बातों को छोडकर एक बीच का मार्ग है, जो नेत्रों को खोलता और ज्ञान देता है। उससे मन को शांति, उच्चतम ज्ञान और पूर्ण प्रकाश अर्थात् निर्वाण प्राप्त होता है।"

इसके उपरात बुद्ध ने उन्हें दु ख, उसके कारण, उसके नाश और उसका नाश करने के मार्ग के सबध में अनेक बाते बतलाईं। जिस मार्ग का वर्णन बुद्ध ने किया, उसमें ये आठ बातें हैं—यथार्थ विश्वास, यथार्थ उद्देश, यथार्थ भाषण, यथार्थ कार्य, यथार्थ जीवन, यथार्थ उद्योग, यथार्थ

अनुयायियों को तीर्थ-यात्रा के लिए आना चाहिए। वे चार स्थान ये हैं—(१) "लुंबिनी" उपवन जहाँ बुद्ध ने जन्म लिया था, (२) "गया" जहाँ बुद्ध ने "बुद्ध पद" पाया था, (३) "सारनाथ" जहाँ बुद्ध ने प्रथम बार बौद्ध धर्म का उपदेश दिया था, और (४) "कुशीनगर" जहाँ उनका निर्वाण हुआ था। इस तरह अपने शिष्यों को उपदेश देते-देते बुद्ध निर्वाण पद को प्राप्त हो गये।

अंतिम संस्कार

बुद्ध का अंतिम संस्कार वैसे ही किया गया जैसे किसी चक्रवर्ती राजा का किया जाता है। उनका शव पाँच सौ बार कपड़ों की तहों से लपेटा गया। तब वह लोहे के एक संदूक में रखा गया, जो तेल से भर दिया गया। उसके ऊपर लोहे की दोहरी चद्दरें चढाई गईं। यह सब इसलिए किया गया जिसमें बुद्ध के शरीर का अवशेष, शव के जलने के बाद, सुरक्षित मिल जाय। चारों ओर भिक्षु संघों को भगवान् के निर्वाण की सूचना दी गई। सातवें दिन अन्त्येष्टि क्रिया के लिए शरीर चिता पर रखा गया। देश-देश से बौद्ध भिक्षु एकत्र हो चुके थे। अग्नि-संस्कार के थोडे ही पहले महाकाश्यप ऋषि पाँच सौ शिष्यों के साथ वहाँ आये। उन्होंने चिता की तीन बार प्रदक्षिणा करके भगवान् के शरीर की पाद-वंदना की। अब अग्निसंस्कार किया गया और बात की बात में वह अमूल्य

मन स्थिति और यथार्थ ध्यान। और इसी को 'अट्ठांगिक मग्ग (अष्टांगिक मार्ग) कहते हैं।

इन पाँच भिक्षुओं को अपने धर्म में दीक्षित करके महात्मा बुद्ध ने पैंतालिस वर्ष तक सारे उत्तरी भारत में इधर-उधर भ्रमण करके बौद्ध मत का प्रचार किया। वे केवल चातुर्मास्य में प्राय. एक स्थान पर रहते थे और शेष मासों में भ्रमण किया करते थे।

बुद्ध का प्रथम शिष्य

उनका पहला गृहस्थ शिष्य काशी के धनाढ्य सेठ का पुत्र 'यश' हुआ। सुख और सपत्ति की गोद में पले हुए इस युवक के धर्म-परिवर्तन का वृत्तात उल्लेखनीय है। उसके तीन महल थे—एक जाडे के लिए, दूसरा गर्मी के लिए और तीसरा बरसात के लिए। एक दिन रात को नींद से जागकर उसने कमरे में गायिकाओं को सोते हुए पाया और उनके वस्त्रों, बालों तथा गाने के साजों को छिन्न-भिन्न देखा। इस युवक ने, जो सुख के जीवन से तृप्त हो चुका था, अपने सामने जो कुछ देखा, उससे उसे बहुत घृणा हुई और गहरे विचार में पडकर उसने कहा—"ओह ! कैसा दु ख है ! ओह ! कैसी विपत्ति है !" अब वह प्रभात के समय घर से बाहर चला गया। उस समय बुद्ध टहलने के लिए निकले थे। उन्होंने इस व्याकुल और दु खी युवक को यह कहते हुए सुना—"ओह ! कैसा दु ख है। ओह ! कैसी विपत्ति है !" इस पर बुद्ध ने

शरीर जलकर भस्म हो गया। दूसरे दिन अस्थि-चयन की क्रिया हुई और बुद्ध की अस्थियाँ एक घड़े में रखी गई।

अस्थियों का बँटवारा

कहा जाता है कि मल्ल जाति के लोग बुद्ध के अवशेष को अपने हाथ में रखना चाहते थे। मल्लों के राजा ने चिता के स्थान पर स्तूप बनाने का प्रबंध किया था। इसी बीच में मगध-राज अजातशत्रु ने, वैशाली के लिच्छवियों ने, कपिलवस्तु के शाक्यों ने, अल्लकप्प के बुलियों ने, रामग्राम के कोलियों ने और पावा के मल्लों ने कुशीनगर के मल्ल-राज के पास दूत के द्वारा लिख भेजा—"भगवान् क्षत्रिय थे, हम भी क्षत्रिय हैं। इस नाते उनके शरीर पर हमारा भी स्वत्व है।" वेथदीप के ब्राह्मणों ने भी इसी विषय में मल्ल-राज को लिखा। यह देखकर मल्लराज ने कहा—"भगवान् का शरीर हमारी सीमा में छूटा है, अतएव हम किसी को न देंगे।" यह सुनकर सब राजा दलबलसहित कुशीनगर पर चढ़ आये और घोर युद्ध की संभावना होने लगी। यह देख "द्रोण" या "द्रोणाचार्य" नाम के एक ब्राह्मण ने सबके बीच में खड़े होकर कहा—"हे क्षत्रियो, जिस महात्मा ने यावज्जीवन शांति का उपदेश दिया, उसी की अस्थियों के अवशिष्टांश के लिए यदि आप लोग घोर युद्ध करें, तो बड़ी लज्जा की बात है। मैं इस पवित्र अस्थि-समूह के आठ भाग किये देता हूँ। आप

लोग अपने-अपने भाग लेकर सब दिशाओं में उनके ऊपर स्तूप बनाइए, जिससे उनकी कीर्ति दिगत-व्यापिनी हो।" इस उचित सम्मति से सब लोग सहमत हुए। तब द्रोणाचार्य ने बुद्ध की पवित्र अस्थियों के आठ भाग किये और वे आठों भाग आठ जातियों में बाँट दिये गये। उन पर प्रत्येक जाति ने एक-एक स्तूप बनवाया। इन आठ स्थानों में बुद्ध की अस्थियों के ऊपर स्तूप बनवाये गये थे—राज-गृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामग्राम, वेथदीप, पावा और कुशीनगर। अनंतर पिप्पलीय वन के मोरिय क्षत्रियों का दूत भाग लेने के लिए आया। द्रोणाचार्य ने उसे चिता की भस्म देकर विदा किया। अंत में द्रोणाचार्य ने स्वयं उस घड़े पर स्तूप बनवाया जिसमें अस्थियाँ रखी थीं। काल-क्रम से इन्हीं अस्थियों में कोई भाग या उसका कुछ अंश महाराज कनिष्क की आज्ञा से पश्चिमोत्तर प्रदेश में जा पहुँचा और उस पर एक बड़ा भारी स्तूप बनाया गया। १९०८ में पेशावर के निकट इसी कनिष्क स्तूप से बुद्ध की कुछ अस्थियाँ प्राप्त हुई थीं।

उक्त जीवनी का ऐतिहासिक सार

ऊपर बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर बुद्ध भगवान् की जो जीवनी लिखी गई है, वह अनेक अतिशयोक्तियों और कल्पनाओं से पूर्ण है। इसमें से ऐतिहासिक सार केवल यही निकलता है कि बुद्ध का जन्म ईसवी से ५६७ वर्ष पहले

बैठे थे। दामोदर शर्मा को देखकर सब लोग अपना-अपना आसन छोड़कर उठ खड़े हुए और उनके बैठने पर सब लोग फिर बैठ गये। महाप्रतीहार कृष्णगुप्त फाटक के पास हाथ में नंगी तलवार लेकर खड़े हो गये। मन्त्रणा आरंभ हुई।

महाराजाधिराज ने कहा—पितृव्य, गोविंद इसी समय जालंधर के लिए प्रस्थान करेंगे। युद्ध आरंभ हो गया है। उनका जो कुछ वक्तव्य है, वह आप सब लोग सुन लें।

गो०—पितृव्य, बाह्लीक और कपिशा पर शत्रुओं का अधिकार हो गया है। गांधार और नगरहार से आगे दूत और व्यापारी लोग नहीं जाने पाते। शीघ्र ही पुरुषपुर और तक्षशिला पर आक्रमण होगा। शकमंडल की सीमा पर जो सेना है वह बहुत थोड़ी है। यदि कम से कम पाँच लाख सैनिक न हुए तो उद्यान और सिंधु देश की रक्षा असंभव हो जायगी। यदि उस बर्बर जाति ने गिरिसंकट पार कर लिया, तो पंचनद की रक्षा के लिए पाँच लाख की जगह दस लाख सैनिकों की आवश्यकता होगी। साम्राज्य में इस समय जहाँ जितनी शिक्षित सेना हो, वह तुरत ही शतद्रु के तट पर पहुँच जानी चाहिए। पंचनद और मध्य देश की सेना मेरे साथ ही जालंधर भेज दी जाय। सौराष्ट्र, सिंधु, आनर्त्त और मालव की सेना हरिगुप्त के साथ सप्तसिंधु के मुहाने पर प्रतीक्षा करे। मागध और गौडीय सेना, जहाँ तक शीघ्र हो सके, महासेनापति के साथ जालंधर पहुँच जाय।

शाक्यों के प्रजातन्त्र राज्य की राजधानी कपिलवस्तु में हुआ था। उनके पिता का नाम राजा शुद्धोदन और माता का मायादेवी था। राजा शुद्धोदन कदाचित् उस प्रजातन्त्र राज्य के प्रधान या सभापति थे। जिस स्थान पर बुद्ध भगवान् का जन्म हुआ था, वह स्थान बौद्ध ग्रंथों में लुंबिनी वन के नाम से लिखा गया है। वहाँ आजकल रुम्मिन देई नामक ग्राम बसा हुआ है और उसके पास ही अशोक का एक स्तंभ खड़ा है, जिस पर लिखा है—"यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था।" जन्म के पाँचवें दिन उनका नाम सिद्धार्थ रखा गया था। उनके गोत्र का नाम गौतम था, इसी लिए वे गौतम बुद्ध कहलाते थे। उनकी माता मायादेवी उनके जन्म के सातवें ही दिन स्वर्गवासिनी हुई, इसलिए उनकी मौसी तथा विमाता प्रजावती ने उनका पालन-पोषण किया था। राजकुमार सिद्धार्थ एकान्त-प्रेमी थे और खेल-कूद या आमोद-प्रमोद में बहुत सम्मिलित न होते थे। वे सदा ध्यान में मग्न रहा करते थे और यही सोचा करते थे कि मनुष्य त्रिविध तापों से किस तरह छुटकारा पा सकता है। जब राजा शुद्धोदन ने अन्य प्रकार से कुमार का मन वैराग्य की ओर से हटता न देखा, तब उन्होंने उन्हें विवाह बंधन में जकड़ने का मनसूबा बाँधा। सोलह वर्ष की उम्र में राजकुमार का विवाह पड़ोस के कोलिय वंश की राजकुमारी यशोधरा से कर दिया गया। राजकुमार के अट्ठाईसवें वर्ष राजकुमारी यशोधरा गर्भवती हुई और उसके

सं[illegible] [illegible]र्मा, प्रतिष्ठान से तनुदत्त, पाटलिपुत्र से [illegible] [illegible]र्दन से भानुमित्र मेरे साथ चले [illegible] सांडागाराधिकृत हों, महाभाण्डागाराधिकृत [illegible] [illegible]दूर एक करोड सुवर्ण [illegible] [illegible]ास एक करोड सुवर्ण पाटलिपुत्र [illegible] [illegible] रहे। यदि ये सब बातें न हो सकें [illegible] [illegible]ा असम्भव हो जायगी।

दामो०—वत्स, दूत के आगमन से पहले हम लोगों ने हूण युद्ध का महत्त्व नहीं समझा था। तुम जो कुछ चाहते हो, वह सब हो जायगा। अग्निगुप्त से लेकर साम्राज्य के साधारण गौल्मिक तक तुम्हारी आज्ञा में रहेंगे। यदि आवश्यकता हुई तो मैं स्वयं पुरुषपुर जाऊँगा और महाराज स्थाण्वीश्वर में रहेंगे।

गो०—नहीं, आप लोगों को पाटलिपुत्र छोड़ने की आवश्यकता न होगी।

उस समय साम्राज्य की रक्षा की मंत्रणा समाप्त हो चुकी थी। दामोदर शर्मा सम्राट् की आज्ञा लिख चुके थे और सम्राट् उस पर हस्ताक्षर कर रहे थे। पत्र पर हस्ताक्षर करके सम्राट् उठ खड़े हुए और युवराज का हाथ पकड़कर अपने छोटे भाई के सामने जाकर कहने लगे—गोविंद, स्कंद आज तक कभी युद्ध में नहीं गये हैं। इन्हें त[illegible] पास ही रखना। मुझे स्पर्श करके इस

गर्भ से यथासमय राहुल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन्हीं दिनों राजकुमार सिद्धार्थ के मन में सन्यास ग्रहण करने का प्रबल विचार हो रहा था। जिस दिन राहुल उत्पन्न हुआ, उसी दिन आधी रात के समय उन्होंने राज-पाट और धन-सम्मान को सदा के लिए त्यागकर जगल का रास्ता लिया। बहुत दिनों तक उन्होंने इधर-उधर घूम-फिरकर पंडितों से ज्ञान प्राप्त करना चाहा। पर पंडितों की शिक्षा से उनको वह ज्ञान न प्राप्त हुआ, जिसकी खोज में वे घर से बाहर निकले थे। तब उन्होंने यह सोचा कि सबसे पहले शारीरिक शुद्धता के लिए तपस्या करना आवश्यक है, क्योंकि बिना इसके चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। इस विचार से वे गयाजी के निकट उरुबिल्व नामक ग्राम में, निरजना नदी के किनारे, घार तपश्चर्या में लीन हो गये। वे छ वर्षों तक तपस्या करते रहे। जब उन्होंने देखा कि मामूली तपस्या से कुछ नहीं होता, तब उन्होंने कठोर से कठोर व्रत और उपवास करना आरम्भ किया, यहाँ तक कि वे दिन में केवल एक दाना चावल का खाकर रहने लगे। इससे वे सूखकर काँटा हो गये। जब उन्होंने देखा कि व्रत तथा उपवास करने से और शरीर को कष्ट देने से आत्मिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, तब वे पूर्ववत् भोजन करने लगे। इसके बाद वे आत्मिक ज्ञान की खोज में बुद्ध-गया गये। वहाँ वे पीपल के एक वृक्ष के नीचे (जो पीछे से "बोधि वृक्ष" के नाम से प्रसिद्ध हुआ) बैठ गये और ध्यान करने लगे। जिस समय वे बोधिवृक्ष

महाराजपुत्र ने मुस्कराकर कहा—आप इतना विचलित क्यों हो रहे हैं ?

सम्राट् का गला रुँध गया। उन्होंने कहा—भाई, मुझे जान पड़ता है कि भारी विपत्ति आनेवाली है। तुम भी सावधान रहना और आत्मरक्षा की पूरी-पूरी चेष्टा करना। फिर लौटकर पाटलिपुत्र आना—

सम्राट् का गला रुँध गया। उन्होंने अपने छोटे भाई और पुत्र को गले से लगा लिया। उस समय वहाँ जितने व्यक्ति उपस्थित थे, वे सभी विचलित हो गये। वृद्ध, विज्ञ, बहुदर्शी और राष्ट्रनीति-कुशल महामात्य की आँखों से भी आँसुओं की धारा बहने लगी। अग्निगुप्त मुँह फेरकर उत्तरीय से आँसू पोंछ रहे थे। इतने में भानुमित्र का हाथ पकड़कर सम्राट् ने कहा—गोविंद, करुणा और अरुणा मेरे लिए स्कंद की ही समान हैं। महानायक अग्निमित्र के पुत्र युवक होने पर भी युद्ध-विद्या के पूरे पण्डित हैं। उनमें सिंह के समान बल है, परंतु उन्हें अपने जीवन का मोह नहीं है। करुणा के लिए उन्हें भी लौटा लाना। भाइयो, । बुड्ढा हो गया हूँ। अनेक बार अपनी मूर्खताओं के कारण मैंने तुम लोगों को कष्ट दिया है, तुम लोग मुझे क्षमा करना। मैं समझ रहा हूँ कि साम्राज्य के बहुत ही बुरे दिन आ रहे हैं। भीषण युद्ध आर्यावर्त को ग्रसने के लिए आ रहा है। इसमें संदेह ही है कि जो लोग इस समय जा रहे हैं ` ` ` आवेंगे भी या नहीं—

के नीचे समाधि में बैठे हुए थे, उस समय उन्हें उस सत्य-ज्ञान का प्रकाश मिला, जिससे वे "बुद्ध" पदवी को प्राप्त हुए। "बुद्ध पद प्राप्त करने के बाद वे बनारस गये और वहाँ उन्होंने मृगदाव (सारनाथ) में पहले-पहल अपने धर्म का उपदेश दिया। इसके बाद वे अपने धर्म का प्रचार करते हुए चारों ओर भ्रमण करने लगे। इसके कुछ ही दिनों बाद बुद्ध के साठ प्रधान शिष्य हो गये, जिनको उन्होंने संघ में संघटित करके भिन्न-भिन्न दिशाओं में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भेजा। एक बार वे अपने शिष्यों-सहित मगध की राजधानी राजगृह को गये। वहाँ मगधराज बिंबिसार बुद्ध का उपदेश सुनकर अपने अनुचरों के साथ बौद्ध मत का अनुयायी हो गया। वहाँ से वे अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु गये। वहाँ शुद्धोदन और उनका समस्त परिवार बुद्ध भगवान् का शिष्य हो गया। इस प्रकार बुद्ध के अविश्रांत परिश्रम से मल्ल, लिच्छवि, शाक्य आदि क्षत्रिय जातियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। इधर-उधर भ्रमण करते हुए बुद्ध भगवान् अंत में कुशीनगर पहुँचे। वहीं ई० पू० ४८७ के लगभग उनका निर्वाण हुआ। अंतिम संस्कार करने के बाद बुद्ध के शरीर का जो अवशेष प्राप्त हुआ, उसके आठ विभाग किये गये। वे आठों भाग आठ जातियों में बाँट दिये गये और उन पर प्रत्येक जाति ने एक-एक स्तूप बनवाया।

—जनार्दन भट्ट

... भर आया। वे जल्दी से भवन ... जा बैठे। रथ नगर की ओर ... कुमारगुप्त के चले जाने पर दामोदर शर्मा ने गोविंदगुप्त ... गुप्त और भानुमित्र को गले से लगाकर रुँधे ... कहा—गोविंद, मेरी समझ में नहीं आता कि ... हो गया है। आज किसी को छोड़ने को जी नहीं चाहता। तुम सब लोग कहो कि हाँ, हम लोग पाटलिपुत्र लौट आवेंगे। मुझे स्पर्श करके शपथ करो। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कराल काल भीषण रूप से मुँह खोलकर आर्यावर्त को ग्रसने के लिए आ रहा है। गोविंद, कल पाटलिपुत्र में अँधेरा छा जायगा। मैं किसको लेकर पाटलिपुत्र में रहूँगा? तुम लोग कहो कि हम सब लोग फिर पाटलिपुत्र में आवेंगे। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त का प्रासाद फिर तुम लोगों की हँसी से गूँज उठेगा।

महाराजपुत्र का भी जी भर आया। उन्होंने कहा—पितृव्य, आप यह क्या कह रहे हैं?

वृद्ध महामन्त्री ने मुँह फेरकर कहा—क्या कहूँ, मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता। स्कंद, गोविंद, बतलाओ, तुम लोग लौट आओगे न? भानु, बेचारी ... सूख जायगा। अंतःपुर में प्रवेश करने पर ... मेरे पुत्र और जामाता कब ... उस ... को क्या उत्तर दूँगा? ... दिन ...

सन् ४१३ में इनकी मृत्यु के उपरांत उनकी ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी नामक रानी के गर्भ से उत्पन्न कुमारगुप्त प्रथम ने राज्याधिकार पाया था। इनके छोटे भाई गोविंदगुप्त थे जो शकमंडल के प्रधान अधिकारी थे और ज्येष्ठ पुत्र स्कंदगुप्त थे। इनके राज्यकाल में हूणों ने गुप्त साम्राज्य पर कई बेर आक्रमण किये थे।

एक समय हूणों ने वाह्लीक और कपिशा पर अधिकार करके गांधार और नगरहार के आगे का मार्ग रोक लिया था और वे शीघ्र ही पुरुषपुर और तक्षशिला पर आक्रमण करने का आयोजन कर रहे थे। इन घटनाओं की सूचना पाटलिपुत्र में पहुँची। उस समय संयोगवश महाराजकुमार गोविंदगुप्त भी पाटलिपुत्र में वर्तमान थे। सब घटनाओं को व्यवस्था विदित होते ही महाराज कुमारगुप्त ने साम्राज्य के जितने युवराज, भट्टारक-पादीय और कुमार-पादीय राजपुरुष नगर में उपस्थित थे उन सबको निमंत्रण भेजकर मंत्र-गृह में सभा की।

सोन नदी के तट पर विस्तृत उद्यान में आज बहुत बड़ा समारोह है। सम्राट् बहुत दिनों के उपरांत समुद्रगुप्त के उद्यान-आवास में आये हैं। प्रतीहारों और रक्षकों से उद्यान चारों ओर से घिरा हुआ है। प्रत्येक फाटक पर बहुत से सवार और पैदल पंक्ति बाँधे खड़े हैं। बीच-बीच में रथ ...ैं और स्वयं महाप्रतीहार कृष्णगुप्त उनके आरोहियों को ...से ले जाते हैं। कोई रथ, हाथी अथवा घोड़ा फाटक

आओगे, उसी दिन मैं फिर तुम्हारे साथ ध्रुवस्वामिनी के प्रासाद में प्रवेश करूँगा, इससे पहले नहीं। गोविंद, जिस समय तुम आकर मेरी चिता बनाओगे उसी समय मैं निश्चिंत होकर मर सकूँगा।

महाराजपुत्र और युवराज ने बड़ी कठिनता से वृद्ध महा-मंत्री को समझा बुझाकर और धैर्य दिलाकर घर भेजा। महामंत्री का हाथी जब उद्यान के फाटक के बाहर निकल गया तब महाराजपुत्र ने युवराज से कहा—स्कंद, हम लोगों को इसी समय यात्रा करनी पड़ेगी।

स्कंद०—इसी समय?

गो०—हाँ, इसी समय। महाराज और महामात्य बहुत ही अधीर हो रहे हैं। आज तक मैंने कभी उन लोगों को युद्ध के लिए यात्रा करते समय इस प्रकार आँसू बहाते नहीं देखा। आज संध्या को ही यहाँ से चल पड़ना चाहिए। अग्नि। तुम प्रस्तुत हो जाओ।

अग्नि०—मैं सदा प्रस्तुत रहता हूँ।

गो०—भानु। अब तुम भी लौटकर गौड़ नहीं जा सकते। यात्रा के लिए प्रस्तुत हो जाओ।

भानु०—मैं तीसरे पहर तक प्रस्तुत हो जाऊँगा।

इसके उपरांत सब लोग उद्यान से निकलकर नगर की ओर चले गये।

था। कदाचित मौर्यों के उपरांत और किसी राजवंश के साम्राज्य का उस समय तक इतना अधिक विस्तार नहीं हुआ था। उनके साम्राज्य का विस्तार हुगली से चम्बल तक और हिमालय की तराई से नर्मदा तक था। लंका आदि दूर देश के राजा भी उनके दरबार में राजदूत भेजा करते थे। उन्होंने पीछे से एक अश्वमेध यज्ञ भी किया था। वे केवल वीर ही नहीं थे, बल्कि विद्वान्, बुद्धिमान और गुणग्राही भी थे। ऐतिहासिक लोग उन्हें भारतीय नेपोलियन की पदवी देने में संकोच नहीं करते। यद्यपि उनके मृत्युकाल का ठीक-ठीक पता नहीं लगता, पर फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने प्रायः पचास वर्षों तक बहुत अच्छी तरह अपने साम्राज्य का शासन किया था।

समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरांत उनकी दत्तदेवी नाम्नी सम्राज्ञी के गर्भ से उत्पन्न चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राज्यारोहण किया। यह बात सन् ३७५ के लगभग की है। उनकी उपाधि विक्रमादित्य थी। कुछ लोगों का विश्वास है कि दंतकथाओं में जिन विक्रमादित्य का उल्लेख आता है, वे यही थे। इनके समय में गुप्त-साम्राज्य का और भी अधिक विस्तार हुआ। सौराष्ट्र या काठियावाड़ इन्हीं के समय में गुप्त-साम्राज्य में मिला था। इनके समय में यूरोप तक के साथ भारतवर्ष का वाणिज्य-संबंध स्थापित हुआ था। सुप्रसिद्ध यात्री फा-हियान इन्हीं के समय में भारत आया था।

संध्या होगई है। पाटलिपुत्र नगर के एक बडे राज-मार्ग के ऊपर पत्थर का बना एक विशाल भवन दीपमालाओं से चमक रहा है। सेनापति देवधर के घर आज बहुत बडा उत्सव है। स्वय देवधर फाटक पर खडे होकर अतिथियों का आदरपूर्वक स्वागत कर रहे हैं। रथ पर रथ आकर फाटक के पास खडे हो रहे हैं और योद्धाओं के वेश मे अतिथि लोग फाटक में प्रवेश कर रहे हैं। फाटक के ऊपर मगल-वाद्य बज रहे हैं। सामने मार्ग में खडे होकर सैकडो नागरिक वह उत्सव देख रहे हैं।

भवन के एक बहुत बडे कमरे में अतिथि लोग एकत्र हो रहे हैं। चारों ओर सुगधित दीपको और फूलमालाओं की सुगधि फैल रही है। सेवक लोग हाथ में पात्र और मद्य लेकर चारो ओर घूम रहे हैं। माध्वी और कादबिनी का मानो सोता बह रहा है। कमरे के बीच में मद्य पिये हुए चार वेश्याएँ नाच रही हैं और चद्रमडल की तरह उनको चारो ओर से घेरे हुए अनेक सुदर वेश्याएँ बैठी हैं। वे सब वेश्याएँ कभी नाचकर और कभी गाकर देवधर के अतिथियो का मनोरंजन करती हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे आधी रात बीत गई।

सेनापति देवधर उस समय भी फाटक पर खडे अतिथियों की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब रात का दूसरा पहर बीत

और पैदल सैनिकों ने भी अभिवादन किया। एक सैनिक बोल उठा—"युवराज की जय हो।" उसके साथ ही समस्त सैनिकों ने भी जयध्वनि की। यह जयध्वनि सुनकर उद्यान के सामने के प्रतीहारों और रक्षकों ने भी जयध्वनि की। युवराज ने फाटक पर रुककर तलवार निकालकर अभिवादन किया। तरुण सैनिक ने अपने साथी से कहा—जान पड़ता है कि ये युवराज हैं।

साथी सैनिक ने उत्तर दिया—हाँ, और इनके साथ जो सवार सैनिक देख रहे हो, वे इनके शरीर-रक्षक हैं। ये लोग मालव के रहनेवाले हैं। शकयुद्ध में इन लोगों ने पराकाष्ठा की वीरता दिखलाकर सौराष्ट्रमंडल पर अधिकार किया था। ये लोग सदा युवराज स्कंदगुप्त के लिए प्राण देने को प्रस्तुत रहते हैं। फिर जब कभी युद्ध होगा, तब मालव के काले घोड़ोंवाले सवार साम्राज्य की सारी सेना के आगे रहेंगे। ये लोग साम्राज्य की घुड़सवार सेना में सर्वश्रेष्ठ हैं।

देखते-देखते एक और रथ आ पहुँचा। महाप्रतीहार और सैनिकों ने अभिवादन किया। उस रथ पर से भी एक युवक उतरे। तरुण सैनिक ने अपने साथी से पूछा—ये कौन हैं?

साथी ने उत्तर दिया—भाई, मैं तो इन्हें नहीं पहचानता। बात यह है कि आज का उद्यान विलास बिलकुल नये ढंग का है। सम्राट् जब उद्यान-विलास में आया करते हैं, तब यहाँ

गया, तब नगर के फाटकों के और मंदिरों के मंगलवाद्य बंद हो गये। उस समय दो रथ आकर देवधर के द्वार पर खड़े हुए। पहले रथ पर से महाराजपुत्र गोविंदगुप्त और महा-बलाधिकृत अग्निगुप्त, और दूसरे रथ पर से युवराज स्कंदगुप्त और बलाधिकृत भानुमित्र उतरे। देवधर ने सम्राट् वंशीय अतिथियों को अभिवादन करके और भानुमित्र को आलिंगन करके कहा—बहुत विलंब हो गया था। अतः मैं समझता था कि कदाचित् आप लोग न आ सकेंगे।

महाराजपुत्र ने हँसकर कहा—देवधर, यह कौन सी बात है। आज तुम्हारे यहाँ सैनिक-उत्सव है। आज तो मैं हजार काम छोड़कर आता। कौन कह सकता है कि जो लोग युद्ध में जा रहे हैं, उनमें से कौन लौटेगा और कौन नहीं।

सब लोगों ने नाचनेवाले कमरे में प्रवेश किया। उन्हें देखते ही लोगों ने भीषण जयध्वनि की जिससे उस भवन की पत्थर की बनी दीवारें तक हिल गई। जो लोग मद्य पीकर उन्मत्त और अर्द्धमत्त हो रहे थे, और जिन लोगों का मस्तिष्क ठिकाने था, उन सब सेनानायकों ने एक-स्वर से चिल्लाकर कहा—"गोविंदगुप्त की जय! महाराजपुत्र की जय!!" साथ ही सैकड़ों तलवारें कोषों से निकलकर हजारों दीपशिखाओं के प्रकाश में चमकने लगीं। गोविंदगुप्त ने आगे मार्ग में रुककर कोष में से तलवार निकाली और उष्णीष से स्पर्श कराके फिर उसे कोष में रख लिया। फिर दूसरी जयध्वनि से

के अदर नहीं जाने पाता। दिन चढे प्राय दो दड बीते हैं। इतने में सोने का एक रथ, जिसमें सिधु देश के चार घोडे जुते थे, आकर फाटक के सामने खडा हुआ। महाप्रतीहार ने आरोही को अभिवादन करके मार्ग छोड दिया। सवारों और पैदल सैनिकों ने सामरिक प्रथा से अभिवादन किया। रथ उद्यान के अदर चला गया। एक युवक सैनिक ने अपने साथी से पूछा—

"क्यों भाई, इस रथवाले यहाँ क्यों न उतरे ?"

साथी ने हँसकर पूछा—जानते हो, वे कौन हैं ?

"नहीं।"

महाराजाधिराज के छोटे भाई शकमडलेश्वर महाराज-पुत्र गोविन्द गुप्तदेव।"

"क्या और किसी का भी रथ अदर जायगा ?"

"हाँ, और तीन रथ सम्राट् के पास तक जा सकते हैं। युवराज भट्टारक स्कंदगुप्त का, युवराज भट्टारक-पादीय महामात्य दामोदर शर्मा का और कुमारपादीय महाबलाधिकृत-नौबलाधिकृत अग्निगुप्त का रथ अथवा हाथी सम्राट् के पास तक जा सकता है।"

सैनिक की बात समाप्त होने से पहले ही एक छोटे सफेद घोडे पर एक दीर्घाकार गोरे युवक फाटक पर आ पहुँचे। उनके पीछे-पीछे दस पक्तियों में सौ घुडसवार थे। महाप्रतीहार ने पुन अभिवादन किया। साथ ही फाटक के सवार

देवधर का भवन हिल गया। सब लोगों ने अग्निगुप्त और युवराज स्कंदगुप्त का नाम लेकर जयध्वनि की। अग्निगुप्त और स्कंदगुप्त ने यथोचित रीति से अभिवादन करके आसन ग्रहण किया। फिर नाच-गाना आरंभ हुआ। फिर आसव, माध्वी और कादंब के सोते बहने लगे।

कोई दो दंड के उपरांत अग्निगुप्त अचानक आसन छोड़-कर उठ खड़े हुए। वृद्ध सेनापति ने कोष से तलवार निकाली और अपने सिर के सफ़ेद बालों से उसे स्पर्श कराया। नाच-गाना रुक गया। तलवार को फिर कोष में रखकर वृद्ध सेनापति ने कहा—भाइयो, मैं, कल हूण-युद्ध में जाऊँगा। आज तक मैंने जो कुछ अपराध किये हों, उनके लिए मैं क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

उनकी बातें सुनकर सब लोग हँस पड़े। कुछ लोगों ने कहा—सेनापति महाशय, सैनिकों के लिए युद्ध में जाना कोई नई बात नहीं है। फिर आप, क्षमा-प्रार्थना, क्यों करते हैं?

पुनः अभिवादन करके वृद्ध, सेनापति ने कहा—भाइयो, चंद्रगुप्त और कुमारगुप्त की आज्ञा से मैं बहुत से युद्धों में गया हूँ, परन्तु कल, मैं जिस युद्ध में जाऊँगा, उस ढंग का युद्ध बहुत दिनों से आर्यावर्त्त अथवा दाक्षिणात्य में, नहीं हुआ। हूण-युद्ध से बहुत से योद्धा लौटेंगे। परन्तु, यह निश्चित है कि चंद्रगुप्त का यह पुराना सेनापति, अब कभी लौटकर पाटलिपुत्र न आवेगा।

बैठे थे। दामोदर शर्मा को देखकर सब लोग अपना-अपना आसन छोड़कर उठ खड़े हुए और उनके बैठने पर सब लोग फिर बैठ गये। महाप्रतीहार कृष्णगुप्त फाटक के पास हाथ में नंगी तलवार लेकर खड़े हो गये। मन्त्रणा आरंभ हुई।

महाराजाधिराज ने कहा—पितृव्य, गोविंद इसी समय जालंधर के लिए प्रस्थान करेंगे। युद्ध आरंभ हो गया है। उनका जो कुछ वक्तव्य है, वह आप सब लोग सुन लें।

गो०—पितृव्य, बाह्लीक और कपिशा पर शत्रुओं का अधिकार हो गया है। गांधार और नगरहार से आगे दूत और व्यापारी लोग नहीं आने पाते। शीघ्र ही पुरुषपुर और तक्षशिला पर आक्रमण होगा। शकमंडल की सीमा पर जो सेना है वह बहुत थोड़ी है। यदि कम से कम पाँच लाख सैनिक न हुए तो उद्यान और सिंधु देश की रक्षा असंभव हो जायगी। यदि उस बर्बर जाति ने गिरिसंकट पार कर लिया, तो पंचनद की रक्षा के लिए पाँच लाख की जगह दस लाख सैनिकों की आवश्यकता होगी। साम्राज्य में इस समय जहाँ जितनी शिक्षित सेना हो, वह तुरंत ही शतद्रु के तट पहुँच जानी चाहिए। पंचनद और मध्य देश की सेना साथ ही जालंधर भेज दी जाय। सौराष्ट्र, सिंधु, आनर्त

वृद्ध सेनापति की बात सुनकर सब सेना-नायक चपलता छोड़कर एक पंक्ति में खड़े हो गये। अग्निगुप्त ने फिर कहा—भाइयो, मैंने भट्टारक समुद्रगुप्त के आर्यावर्त्त और दाक्षिणात्य की विजय की बहुत सी कहानियाँ सुनी हैं। चद्रगुप्त का मालव और सौराष्ट्र जीतना देखा है। युद्ध करते-करते ही मेरे बाल पके हैं। मैं आज साम्राज्य के सेनानायकों के सामने कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।

अग्निगुप्त की बात सुनकर नाचने और गानेवाली स्त्रियाँ दूर हट गईं और मद्य के सब पात्र फेंक दिये गये। उस बड़े कमरे में बिलकुल सन्नाटा छा गया। अग्निगुप्त ने फिर कहना आरम्भ किया—भाइयो, मैं बहुत दिनों से सुनता आता हूँ कि समय-समय पर मरुस्थल के जगली निवासी पेट की ज्वाला शांत करने के लिए इसी हरी-भरी आर्य भूमि पर आक्रमण करते हैं। यह पवित्र आर्य-भूमि इसी प्रकार अनेक बार जगली जातियों के द्वारा पद-दलित हुई है। शकों, पारदों और पह्लवों ने इसी प्रकार आर्यावर्त्त पर अधिकार किया था। इसी कारण चन्द्रगुप्त, बिंदुसार और अशोक के विशाल साम्राज्य मिट्टी में मिल गये थे। भाइयो, मैंने सुना है कि हूण लोग मरुस्थल के जगली निवासी हैं। वे लोग आर्यावर्त्त पर आक्रमण कर रहे हैं। क्या समुद्रगुप्त का साम्राज्य जगलियों के हाथों नष्ट हो जायगा? क्या दूसरी बार मगधवासी अपने देश आर्यावर्त की रक्षा से मुँह मोड़ लेंगे?

युवती नर्त्तकियाँ आती हैं, सुन्दर-सुन्दर गानेवाली आती हैं। सारा दिन आमोद-प्रमोद में बीतता है। परन्तु आज की नर्त्तकी दामोदर शर्मा हैं, और जान पडता है कि गायिका महाराजपुत्र और बाजा बजानेवाले अग्निगुप्त हैं।

सैनिक की बात सुनकर सब फाटक पर के सैनिक हँस पडे। उस समय उसने पास ही खडे हुए दूसरे सैनिक से पूछा—भाई, ये कौन आये हैं?

दू० सै०—जान पडता है, ये गौड के बलाधिकृत भानुमित्र हैं।

पहले सैनिक ने कहा—सच, तब तो ये बडे ही असाधारण वीर हैं। अट्ठारह वर्ष की अवस्था में इन्होंने अकेले एक गुल्म सेना लेकर समस्त शक राजाओं के विरुद्ध नगरहार की रक्षा की थी। ये युवराज के दाहिने हाथ हैं। महाराजाधिराज की पालिता कन्या करुणा देवी का विवाह इन्हीं के साथ हुआ है। ये गौडीय सेनापति एक न एक दिन युवराज भट्टारकपादीय महासेनापति होंगे।

इतने में एक बहुत बडे हाथी पर वृद्ध महामन्त्री फाटक पर आ पहुँचे। अभिवादन के उपरांत महाप्रतीहार उन्हे उद्यान में पहुँचा आये। अब उद्यान का फाटक बंद हो गया। उद्यान में संगमरमर के बने भवन में परमेश्वर परमभागवत परमभट्टारक महाराजाधिराज कुमारगुप्त देव सोने के सिंहासन पर बैठे थे। उनके सामने गोविंदगुप्त, स्कंदगुप्त, और अग्निगुप्त

समस्त सेनानायक एक साथ बादल की तरह गरज उठे। सैकड़ों कठों से एक साथ सुनाई पड़ा—कभी नहीं।

उस समय वृद्ध सेनापति के चेहरे पर प्रसन्नता झलकने लगी। उन्होंने कहा—भाइयो, मैं तुम लोगों से यही उत्तर सुनने के लिए यहाँ आया था। ईश्वर तुम लोगों का मगल करे। भाइयो, गुप्त-साम्राज्य बहुत दूर-दूर तक फैला हुआ है। उसकी सीमा चारो ओर समुद्र तक है। पाटलिपुत्र नगर बहुत ही सुदर है। ऐसा सुदर दूसरा नगर कहीं देखने में नहीं आता। ऐसे सुदर नगर और विस्तृत साम्राज्य को जगलियो के हाथो से बचाना हम लोगों का परम कर्त्तव्य है। भाइयो, तुम लोग सचेत हो जाओ। इस समय जो भयकर आग लग रही है, वह सहज में नहीं बुझेगी। यद्यपि मुझे इन आँखों से बहुत कम सूझता है, परतु फिर भी परमेश्वर ने जो मुझे दिव्य नेत्र दिये हैं, उन नेत्रो से मैं देख रहा हूँ कि यह भीषण यज्ञ तभी समाप्त होगा, जब इसमें हजारों बड़े-बड़े वीरों की आहुति दी जायगी। तुम लोग वीर हो, योद्धा हो और आत्मोत्सर्ग करने से डरनेवाले नहीं हो। परन्तु हूण-युद्ध बहुत दिनो तक चलेगा। भाइयो, देवताओं और ब्राह्मणों को, स्त्रियों और बालको की रक्षा करने के लिए बहुत दिनों तक आत्म बलि देनी पड़ेगी। स्मरण रक्खो, यदि तुम इस सुदर पाटलिपुत्र नगर को इसी प्रकार सुदर रखना चाहते हो, तो तुम्हें पचनद की पहाड़ी सीमा को नदियो और उपत्यकाओं

में मगध की सेना का रक्त बहाना पड़ेगा। यह रक्त बहुत दिनों तक बहता रहेगा, इसलिए भाइयो, तुम लोग घबराना नहीं। आज जहाँ मद्य की नदियाँ बह रही हैं, वहीं कल लहू की नदियाँ बहेंगी। इस वृद्ध की नसों में इस समय जो थोड़ा-बहुत रक्त बह रहा है, वह समुद्रगुप्त के पोते की सेवा में ही लगेगा। परन्तु यहाँ इसका आरंभ ही होगा। अग्निगुप्त के उपरांत गोविंदगुप्त और स्कंदगुप्त आदि रहेंगे। आर्यावर्त में नायकों का अभाव नहीं रहेगा। जब तक देवताओं और ब्राह्मणों की सेवा के लिए माताएँ अपनी इच्छा से अपने पुत्रों को बलिदान चढ़ावेंगी, स्त्रियाँ हँसती हुई अपने पतियों को मरने के लिए भेजेंगी और देवताओं, ब्राह्मणों, स्त्रियों और बालकों की रक्षा के लिए वृद्ध लोग काँपते हुए हाथों से तलवार चलावेंगे, तब तक आर्यावर्त रक्षित रहेगा। परन्तु जिस दिन घर में ही फूट होगी, उस दिन चंद्रगुप्त, बिंदुसार और अशोक के साम्राज्यों की तरह गुप्त-साम्राज्य भी टुकड़े-टुकड़े हो जायगा। यह बात भूल न जाना कि पुष्यमित्र ने मुट्ठी भर धूल के लिए मुट्ठी भर सोना छोड़ा था। आपस के झगड़ों के कारण ही बहुत दिनों से आर्यावर्त का सर्वनाश हो रहा है, इस बात को भूल न जाना। भाइयो, प्रार्थना करो और आशीर्वाद दो कि जिस दिन हूण युद्ध में विजय प्राप्त करके साम्राज्य की सेना लौटे और पाटलिपुत्र में प्रवेश करे, उस दिन गोविंदगुप्त और स्कंदगुप्त उस सेना के आगे-आगे रहें। यदि ईश्वर की कृपा

परन्तु ५०० सैनिक पाँच लाख सैनिकों की गति नहीं रोक सकते। हम लोगों के पीछे वाह्लीक नगरी है जिसमें हजारों असहाय पुरुष और स्त्रियाँ हैं। उनमें छोटे-छोटे बच्चे भी हैं, ब्राह्मण भी हैं और श्रमण भी हैं। उन लोगों की रक्षा करना हम लोगों का परम कर्त्तव्य है। पुत्रो! अग्निगुप्त का अनुरोध है कि एक व्यक्ति वाह्लीक लौट जाय।

फिर भी पाँच सौ सवार पहले की भाँति चुपचाप खड़े रहे। यह देखकर वृद्ध महाबलाधिकृत की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उन्होंने फिर गद्गद स्वर से कहा—आर्य, तुम लोगों का नाम यथार्थ है। तुम्हारी शिक्षा और तुम्हारा निकाला हुआ मार्ग मगधवासी अब तक नहीं भूले। पुत्रो, जिसकी अवस्था बहुत थोड़ी हो, जिसका विवाह हुए बहुत थोड़े दिन हुए हों, उसे वाह्लीक भेज दो।

एक गुल्मनायक एक युवक सैनिक को महाबलाधिकृत के सामने ले आया। वह सैनिक घोड़े पर से उतर पड़ा और वृद्ध के पैर पकड़कर रोने लगा। उसने रोते-रोते कहा—पिताजी, मेरा शरीर माता के स्तन से पुष्ट हुआ है। गुप्तवंश के अन्न से मेरी कई पीढ़ियाँ पली हैं। मैं कौन मुँह लेकर वाह्लीक जाऊँगा?

अग्निगुप्त ने उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा—पुत्र, सैनिक का कर्त्तव्य बहुत कठोर होता है। यह भी तुम्हारा कर्त्तव्य ही है। अब तुम चले जाओ। यदि तुम कभी

होगी तो तुम लोग वह विजय-यात्रा देखोगे। हाँ, यह वृद्ध अग्निगुप्त उस समय न रहेगा। तुम लोग देखना, मैं तुम्हीं लोगों को देखकर स्वर्ग अथवा नरक में तृप्त होऊँगा।

अब सेनापति चुप हो गये। न तो किसी ने कोई उत्तर दिया और न किसी ने जयध्वनि की। सब लोग पत्थर की मूर्ति की तरह चुपचाप खड़े रहे। कुछ समय के उपरान्त एक दूसरे कमरे से एक-एक करके सैकड़ों पुरुष वहाँ आ पहुँचे और अग्निगुप्त को अभिवादन करके कहने लगे—प्रभु, हम लोग पाटलिपुत्र के निवासी हैं। हम लोग साम्राज्य की रक्षा के लिए आपके साथ हूण-युद्ध में चलेंगे।

विस्मित होकर अग्निगुप्त ने पूछा—तुम लोग कौन हो?

उन लोगों ने उत्तर दिया—हम लोग आर्य देवधर के दास हैं।

विस्मित होकर अग्निगुप्त ने देवधर के मुँह की ओर देखा।

देवधर ने कहा—महाबलाधिकृत, पिताजी ने इन लोगों को अवश्य मोल लिया था। परन्तु ये लोग बाल्यावस्था से ही मेरे बड़े मित्र हैं। जो लोग लड़ना-मरना जानते हों वे दास नहीं हो सकते। भाइयो, अब तुम लोग दास नहीं हो, मैं तुम लोगों को दासत्व से मुक्त करता हूँ।

अब फिर सेना-नायकों ने आकाश-व्यापी जयध्वनि की। सैकड़ों खड्ग कोष से निकलकर योद्धाओं के [illegible] चूमने लगे देवधर ने कहा—भाइयो, तुम लोगों [illegible]

लौटकर पाटलिपुत्र पहुँचो, तो कुमारगुप्त से कह देना कि अग्निगुप्त ने उत्तरापथ के प्रवेश-द्वार की रक्षा की थी।

वह सवार वाह्लीक की ओर चल पड़ा। अग्निगुप्त ने फिर शंख बजाया। एक कम पाँच सौ सवार वाह्लीका की ओर मुड़े और तुरन्त उसके शीतल जल में कूद पड़े। उस समय हूणों की सेना बहुत पास आ गई थी। मुट्ठी भर शत्रु-सेना को देखकर उसके सैनिक गरजने लगे। उनकी भीषण गरज से पर्वत-माला फिर काँप उठी। एक बार इसी भीषण गरज ने सुदूर पश्चिम के रोमक नगर को भी कँपा दिया था। मागध सेना ने वाह्लीका नदी के उस पार पहुँचकर तङ्ग पहाड़ी मार्ग रोक दिया। उस मार्ग में पाँच से अधिक सवार एक साथ नहीं चल सकते थे। देखते-देखते उस जंगली सेना ने आँधी की तरह मागध सैनिकों पर आक्रमण किया। अग्नि-गुप्त के सैनिक लोहे की बनी दीवार की तरह अटल होकर खड़े रहे। पर्वत की सफ़ेद बरफीली भूमि पर लहू की नदियाँ बहने लगीं। आर्य्य-रक्त के साथ बर्बर-रक्त ने मिलकर मानों वाह्लीका के चरणों में अपूर्व महावर लगाया। अग्निगुप्त सफ़ेद घोड़े पर सवार और सफ़ेद वर्म्म पहने हुए, हाथ में सोने का गरुड़ध्वज लिये सेना का परिचालन कर रहे थे। उस ध्वज में लगी हुई लम्बी सफ़ेद पताका ठंढी हवा में उड़ रही थी। मागध सैनिकों की क्षीण काली रेखा क्रमश और भी अधिक क्षीण होती जाती थी। समुद्र की तरङ्गों की तरह असंख्य

परंतु तुम लोग दास हो। स्वाधीन सैनिक लोग तुम्हें अपने वर्ग में प्रवेश न करने देंगे। तुम लोग किस प्रकार युद्ध में सम्मिलित होगे? महाबलाधिकृत! आप इन लोगों की क्या व्यवस्था करेंगे?

अग्नि०—कोई चिंता की बात नहीं है। स्मरण नहीं आता कि इससे पहले और भी कभी किसी क्रीतदास ने साम्राज्य की सेना में प्रवेश करना चाहा हो।

अग्निगुप्त के पीछे स्कंदगुप्त बोल उठे—आर्य, ये लोग अपनी इच्छा से युद्ध में जाना चाहते हैं। यदि कोई सेना-नायक इन लोगों को ग्रहण न करेगा, तो मैं स्वयं इन लोगों को ग्रहण कर लूँगा।

फिर भीषण जयध्वनि से वह भवन हिल गया। नगर के फाटकों पर तीसरे पहर के मंगल-वाद्य बजने लगे। यह सुनकर गोविंदगुप्त आसन छोड़कर उठ खड़े हुए और कहने लगे—भाइयो, रात बीत चली है। हूण-युद्ध से जो लोग जीते लौटेंगे, वे फिर देवधर के घर पर मिलेंगे।

(३)

बरफ से लदे हुए सफेद पहाड़ों से घिरी हुई एक छोटी उपत्यका है जिसके एक ओर एक बड़ी नदी बह रही है। नदी के एक ओर बहुत ऊँची पर्वतमाला और दूसरी ओर हरी-भरी चौरस भूमि है। एक तंग पहाड़ी मार्ग नदी के उत्तर

हूण उन लोगों पर आक्रमण कर रहे थे। प्रत्येक मागध सैनिक उत्तरापथ के प्रवेश-द्वार की रक्षा के लिए बहुत ही वीरता-पूर्वक लड़कर प्राण देता था। सहसा आक्रमण का वेग बढ़ा। सैकड़ों की जगह हज़ारों हूण सवार उस तङ्ग पहाड़ी मार्ग में आ-आकर मागध सैनिकों पर आक्रमण करने लगे। इस ओर अब एक सौ सवार भी नहीं बच रहे थे। यह देखकर अग्निगुप्त ने कहा—भाइयो, हम लोग अब अधिक समय तक इस स्थान की रक्षा नहीं कर सकेंगे। परन्तु फिर भी आर्य समुद्रगुप्त के गरुड़ध्वज को बर्बरों के स्पर्श से कलङ्कित न होने देंगे।

अब वृद्ध अग्निगुप्त ने वह गरुड़ध्वज टुकड़े-टुकड़े करके गुल्मनायक के हाथ में दे दिया और पताका को अपनी छाती में बाँधकर बची हुई मागध सेना के साथ हूण-सेना पर आक्रमण किया। कुछ समय के लिए हूण लोग हाथ में परशु लेकर डटे रहे। उन्होंने बड़े आश्चर्य से वृद्ध अग्निगुप्त की ओर देखा और साथ ही भीषण युद्ध आरम्भ किया। वह तङ्ग पहाड़ी मार्ग मनुष्यों और घोड़ों की लाशों से भर गया। अग्निगुप्त घोड़े पर से उतरकर रक्त और मांस से बनी हुई उसी प्राचीर पर आ खड़े हुए। उनकी रक्षा के लिए केवल चार सैनिकों ने उनका साथ दिया। सैकड़ों तीरों और भालों ने उन पाँचों वीरों को वीर-गति प्राप्त करा दी। मागध मांस, मागध हड्डियों और मागध चर्बी से बनी हुई उस प्राचीर पर

ञार से आकर उसके तट पर समाप्त हुआ है। दक्षिण तीर से एक पथ आरंभ होता है, जो उपत्यका में से होता हुआ उसके दूसरी ओर पहाड़ों पर चला गया है। यही वाह्लीक नगर का मार्ग है। उत्तरवाली पर्वतमाला के पीछे मध्य एशिया की लंबी-चौडी मरुभूमि है। उस समय तक का सभ्य जगत् यह नहीं जानता था कि इस मरुभूमि के उस ओर क्या है।

इस छोटी उपत्यका में कभी कोई नहीं रहता था। उसके दक्षिण ओर वाह्लीक की हरी-भरी समतल भूमि थी। मुसलमानों की विजय से पहले यही उपत्यका उत्तरापथ का द्वार थी। पारसिक, शक और हूण आदि जिन जातियों ने आर्यावर्त्त पर विजय प्राप्त की थी, वे इसी मार्ग से उत्तरापथ में आई थीं। बहुत प्राचीन काल से इस नदी के तट पर पत्थर का एक छोटा दुर्ग बना हुआ था। जिस समय उत्तरापथ में एकछत्र राजशक्ति दृढ आधार पर स्थापित थी, उस समय उत्तरापथ की सेना पाटलिपुत्र से आकर इसी नदी तट और छोटे दुर्ग की रक्षा किया करती थी। जब उत्तरापथ की राजलक्ष्मी चचला हो गई, तब यह नदी-तट अरक्षित रहने लगा। उस समय सैकड़ों-हज़ारों भूखे मरुवासी इसी मार्ग से उर्वर उत्तरापथ में आकर लाखों स्त्रियों और पुरुषों का रक्त बहाया करते थे।

एक दिन ग्रीष्म ऋतु के प्रभात के समय एक हजार सवार उसी छोटी उपत्यका में नदी के दक्षिण तट पर ठहरे

मागध वीर महाबलाधिकृत महानायक अग्निगुप्त ने मागध-साम्राज्य के प्रवेश-द्वार की रक्षा के लिए प्राण दे दिये।

युद्ध तो समाप्त हो गया, परन्तु विजेता हूण-सेना ने तुरन्त ही वहाँ से भागना आरम्भ किया। उपत्यका के दक्षिण ओर से घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूल की आँधी वाह्लीका की ओर आ रही थी। थोड़े ही समय में असंख्य सैनिकों ने आकर हजारों हूणों को मार डाला और हजारों बर्बरों ने अस्त्र रखकर आत्म-रक्षा की। उस समय गुप्त-साम्राज्य के हजारों घुड़सवार सैनिक मागध सैनिकों की लाशों के पहाड़ के चारों ओर आ खड़े हुए। उत्तर की ओर खड़े हुए एक प्रौढ़ योद्धा ने दूसरी ओर के एक युवक योद्धा से पूछा—चक्रपालित, इस समय इस स्थान की रक्षा कौन कर रहा था?

चक्रपालित ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—देव, स्वयं महानायक।

प्रौढ़—हैं! क्या केवल एक हजार सैनिक लेकर साम्राज्य के महाबलाधिकृत ने इस प्रांत की रक्षा की थी? चक्रपालित, क्या वाह्लीक में सेना नहीं थी? क्या तुम यह नहीं जानते थे कि अग्निगुप्त के बाहुबल पर ही कुमारगुप्त के विशाल साम्राज्य की रक्षा का भार था? बचे हुए लोग किधर गये?

चक्र०—महाराजपुत्र, जब तक एक व्यक्ति भी जीता था, तब तक इस स्थान पर शत्रु का अधिकार नहीं हो सका था।

हुए थे। नदी-तट पर सैकड़ों अग्निकुंड बने हुए थे, जिनमें से हर एक के आसपास बहुत से सवार डेरा डाले पड़े थे। उन अग्निकुंडों के पीछे एक हजार सुसज्जित घोड़े खड़े थे। उन घोड़ों के पीछे एक नाटे वृद्ध योद्धा और एक युवक सेनापति पत्थर की चट्टान पर बैठे हुए थे।

जिस समय बालसूर्य की लाल किरणें पहाड़ों की बरफीली चोटियों पर पड़कर उनकी रंगत सुनहली करने लगीं, उस समय नदी के उस पार टेढ़े मेढ़े पहाड़ी मार्ग से एक सवार आता हुआ दिखलाई दिया। सबसे पहले अग्निकुंड के पास बैठे हुए एक सवार ने उसे देखा था। उसने सेनापति के पास आकर उन्हें वह आता हुआ सवार दिखलाया। वृद्ध और युवक सेनापति आसन छोड़कर उठ खड़े हुए। जब वह सवार पास आया तब दोनों सेनापतियों ने देखा कि वह भेड़ का चमड़ा ओढ़े हुए और एक काले घोड़े पर सवार है, और शीघ्रतापूर्वक नदी की ओर आ रहा है। वृद्ध सेनापति ने युवक सेनापति से कहा—भानु, यह बर्बर जान पड़ता है, परन्तु सभी पर्वतों पर हम लोगों की सेना ठहरी हुई है और वक्षु के उस पार हूणों का पड़ाव है। ऐसी दशा में यह जंगली यहाँ तक कैसे आया?

भानु:—महानायक, यह बात तो मेरी भी समझ में नहीं आती कि यह क्योंकर वाह्लीक में पहुँचा। कहीं महाराजपुत्र ने हूणों से संधि करके कोई दूत तो नहीं भेजा?

सहसा एक गोरे युवक ने प्रौढ के सामने आकर सैनिक रीति से अभिवादन किया और कहा—पितृव्य, आप पादुका छोड दीजिए। आर्य समुद्रगुप्त की रण नीति में पीछे हटना नहीं लिखा है। हजारों युद्धों के शूर, उत्तरापथ और दक्षिणापथ के महाबलाधिकृत, आपके पितृव्य महानायक अग्निगुप्त वीर-गति को प्राप्त हुए हैं। पितृव्य, आप घबरायँ नहीं। गुप्तवंश में आज तक कौन और कब युद्ध-क्षेत्र में पीछे हटा है? आर्य अग्निगुप्त यहीं हैं।

प्रौढ ने ठंढी साँस लेकर युवक को गले लगा लिया और कहा—स्कन्द, मैं सचमुच घबरा गया था। जिस समय पिता और पितामह पीछे हट जाते थे, उस समय भी पितृव्य अग्निगुप्त कभी पीछे न हटते थे। तो भी जिनके उँगली हिलाने से ही आर्यावर्त्त और दाक्षिणात्य काँप उठता था और जिनकी अधीनता में लाखों सैनिक इस पहाडी उपत्यका में आये हैं, उनके सम्बन्ध में यह विश्वास करने को जी नहीं चाहता कि उन्होंने इस छोटी सी उपत्यका में एक छोटे युद्ध में एक हजार सैनिक लेकर प्राण दे दिये हों।

इतना सुनते ही मगध-युवराज कूदकर लाशों के उस ढेर पर जा चढे। वहाँ उन्होंने देखा कि महावीर, महानायक अग्निगुप्त पताका को गले से लगाये हुए महानिद्रा में पडे हैं। युवराज का धैर्य छूट गया। अग्निगुप्त के शरीर पर सैकडों घाव थे, परन्तु फिर भी उनका चेहरा हँसता हुआ जान

महा०—क्या कहूँ कुछ भी समझ नहीं आता।

भानु०—देखिए, वह क्या समाचार लाता है।

इधर उस सवार ने जब देखा कि नदी के इस पार बहुत से सैनिक हैं, तब उसने घोड़े की चाल रोकी और तुरत ही उसका मुँह फेरकर वह दूसरी ओर भागा। यह देखकर भानु-मित्र ने कहा—महानायक, यह मित्र नहीं है।

उत्तर में महानायक अग्निगुप्त ने कहा—नहीं।

भानु०—तो फिर यह कौन है?

अग्नि०—मैं तो समझता हूँ कि यह हूण है।

भानु०—तो क्या युवराज और महाराजपुत्र पराजित हो गये?

अग्नि०—भानु, क्या तुम पाँच सौ सवार लेकर वंक्षु-तट तक जा सकते हो?

भानु०—जा सकता हूँ। परन्तु एक बात है। यदि मैं पाँच सौ सवार अपने साथ ले जाऊँगा, तो यहाँ केवल पाँच ही सौ सैनिक बच रहेंगे। उस समय यदि हूणों ने नदी-तट पर आक्रमण किया, तो क्या आप केवल पाँच सौ सैनिक लेकर वाह्लीका की रक्षा कर सकेंगे?

अग्नि०—हाँ, मैं कर लूँगा। पास ही वाह्लीक नगर है। वहाँ एक लाख सैनिक हैं। समाचार भेजते ही चक्र-पालित एक पहर में दस हज़ार सवार भेज सकेंगे। वाह्लीका बहुत गहरी है और उसका बहाव भी बहुत तेज है। सुना है

पड़ता था। उनकी यह दशा देखकर स्कन्दगुप्त ने रोते-रोते कहा—आर्य, आपके योग्य यही शय्या है। ईश्वर करे, आपका अनुकरण करता मैं भी ऐसी ही शय्या पर सोऊँ। आर्य, पाँच सौ सैनिकों को लेकर आपने अमर यश और अमर धाम अवश्य प्राप्त कर लिया। परन्तु जिस आठ वर्ष के बालक को आपने तलवार पकड़ना सिखलाया था, उसकी बहुत दिनों की प्रतिज्ञा को आपने व्यर्थ कर दिया। आपकी रक्षा के लिए आपकी दी हुई तलवार शत्रुओं का रक्त-पान न कर सकी।

अब स्कन्दगुप्त ने अग्निगुप्त का रक्त से भरा मृत शरीर गले से लगा लिया। यह देखकर गोविन्दगुप्त ने विस्मित होकर पूछा—स्कन्द, तुम क्या कह रहे हो ? पितृव्य कहाँ हैं ?

युवराज ने आँसू-भरी आँखे उठाकर कहा—पितृव्य, वे मेरी गोद में हैं।

लाशों के उसी ढेर पर खड़े होकर स्कन्दगुप्त ने अग्निगुप्त का मृत शरीर उठाया। गोविन्दगुप्त ने तलवार निकालकर शिरस्त्राण से उसे स्पर्श कराया। उनके साथ ही लाखों तलवारें निकलकर मागध सैनिकों के शिरस्त्राण चूमने लगीं। इसके उपरान्त गोविन्दगुप्त घुटने टेककर और तलवार सामने रखकर बैठ गये। उनके साथ ही साथ लाखों मागध सैनिक भी उसी प्रकार महानायक के शव के सामने घुटने टेककर और सिर झुकाकर बैठ गये। मागध लोग उस समय भी प्राण देना जानते थे।

भेजना निश्चित किया था, उसी दिन वाह्लीका नदी के उस पार वह वृद्ध सैनिक दिखाई दिया था।

धीरे-धीरे सूर्य की किरणों से पहाड की बरफीली चोटियाँ लाल हो गई। वाह्लीका नदी के उस पार के पहाड़ी मार्ग उस लाल उपत्यकारूपी रमणी के गले में मोतियों की मालाओं के समान जान पडते थे। हरे-भरे मैदान में ५०० सवार एक श्रेणी में पत्थर की बनी मूर्तियो की तरह चुपचाप खड़े थे। दिन प्राय एक पहर बीत चला था। पर्वतों, वनों और उपत्यका में से अन्धकार अपना अंतिम आश्रय-स्थान भी छोडकर मानों सूर्यदेव से पराजित होकर निकल गया था। पाँच सौ सवारों के पीछे वृद्ध महाबलाधिकृत महानायक अग्निगुप्त लोहे का सफेद वर्म्म पहने हुए सफेद रङ्ग क घोडे पर बैठे थे। ठंढी पहाडी हवा के झकोरों से उनके पके हुए बाल शिरस्त्राण के पीछे की ओर लहरा रहे थे। इतने मे सहसा पहाड की चोटी पर शङ्ख बजा। साथ ही दूसरे पहाड की चोटी पर तुरही बजी। वृद्ध महाबलाधिकृत चौंक उठे।

पाँच सौ सवारों ने विस्मित होकर देखा कि बहुत दूर पहाड़ की बरफीली चोटियो पर काली चींटियों की तरह हजारों सैनिक भर गये हैं। महाबलाधिकृत ने शङ्ख बजाया। पाँच सौ सैनिक उनकी ओर मुँह करके खडे हो गये। उस समय वृद्ध महानायक ने रूँधे हुए गले से कहा—भाइयो, आज ही

हम लोगों की परीक्षा का दिन है। चन्द्रगुप्त के पुत्र और पौत्र मारे गये। यदि ऐसा न होता तो चींटियों की तरह ये लाखों हूण वक्षु नदी को पार करके वाह्लीका नदी के तट पर कभी नहीं आ सकते थे। हम लोगों का यह शरीर चद्रगुप्त और कुमारगुप्त का अन्न खाकर पुष्ट हुआ है। प्रथम चन्द्रगुप्त का रक्त इस समय भी इस जीर्ण शरीर में बह रहा है। इस समय उसी की परीक्षा होगी। भाइयो, तुम लोग मगधवासी हो, और आज मगध की वीरता की परीक्षा का दिन है। पाँच सौ सवार चाहे पाँच लाख सवारों की गति रोक न सकें, किन्तु वे उनके मार्ग में बाधक अवश्य हो सकते हैं। युग-युगातर से वाह्लीका पवित्र आर्यभूमि है। बर्बरों के पैरों के स्पर्श से इसकी रक्षा होती आई है। सैकड़ों वर्ष से वाह्लीका के जल में आर्यों का रक्त मिलता आया है। अत यह नदी-तट आर्यों का पवित्र क्षेत्र है। आज के शुभ दिन बाल-सूर्य की किरणों से पवित्र होनेवाले इस तीर्थ में हम लोगों की परीक्षा होगी। वीरो, इस परीक्षा का अत नहीं है। साथ ही न तो कोई इसका फल है, न इसमें विजय है और न पराजय ही है। तुम लोगों में से जो वीर निष्काम भाव से पुरुषोत्तम के चरण कमलों में अपना सर्वस्व समर्पित करके पितृभूमि के लिए आत्म-बलि देने को प्रस्तुत हों, वे मेरे साथ आगे बढ़ें। जिनकी माता हैं, जिनकी बहनें हैं, जिनकी कन्याएँ हैं, वे इस पवित्र क्षेत्र में पीठ न

हारी हुई हूण-सेना का पीछा किया, तब उनके उस आश्चर्य का स्थान भय ने ले लिया। जब पराजित हूण-सेना ने वक्षुतट पर पहुँचकर देखा कि स्कन्दगुप्त के एक लाख सवारों ने लौटने का मार्ग भी रोक रखा है, तब वे लोग घबराकर इधर-उधर भागने लगे। वाह्लीका के तट पर उन्हीं पाँच लाख सैनिकों की गति रोकने में अग्निगुप्त ने आत्मविसर्जन किया था। भानुमित्र जिस मार्ग से होकर युवराज को ढूँढने गये थे, उस मार्ग से हूण-सेना नहीं आई थी। भानुमित्र ने तीन दिन के बाद वाह्लीका-तट पर लौट कर सुना कि युद्ध समाप्त हो गया। महाराज गोविंदगुप्त ने आज्ञा दे दी कि भानुमित्र भी युवराज के साथ पुरुषपुर लौट जायँ। वाह्लीक नगर में चक्रपालित को रखकर और सब लोग कपिशा लौट आये। अग्निगुप्त का भस्मावशेष लेकर भानुमित्र और स्कन्दगुप्त कपिशा और नगरहार होते हुए पुरुषपुर पहुँचे। भानुमित्र को पुरुषपुर में छोड़कर स्कन्दगुप्त पाटलिपुत्र की ओर बढ़े। मार्ग में हर एक गाँव और हर एक नगर में महोत्सव होने लगे। महावीर अग्निगुप्त के भस्मावशेष और हूणों को परास्त करनेवाले युवराज की अभ्यर्थना करने के लिए आर्यावर्त्त के निवासी आपे से बाहर हो गये। तक्षशिला, जालंधर, स्थाण्वीश्वर, मथुरा, कान्यकुब्ज और वाराणसी में युवराज ने बड़े समारोह से नगर-प्रवेश किया। पाटलिपुत्र नगर में जैसा समारोह हुआ था, वैसा समारोह द्वितीय चन्द्रगुप्त के मालव और

दिखलावें। माता का दूध पीकर जिनका शरीर परिपुष्ट हुआ है, वे भागकर कलङ्क के भागी न बनें। यही नदी-तट उत्तरापथ में प्रवेश करने का द्वार है। मगध-वासियों ने हज़ारों वर्ष तक इस द्वार की रक्षा की है और वे आज भी इसकी रक्षा करेंगे। मैंने स्वय आर्य समुद्रगुप्त का गरुडध्वज धारण किया है। वाह्लीका के तट पर मेरी चिता बनेगी। भाइयो, मार्ग खुला है। जिन्हें अपने जीवन की ममता हो, वे लौटकर वाह्लीक नगर चले जायँ।

पाँच सौ सवार चुपचाप वहीं खडे रहे। उनमें से एक भी वाह्लीक के खुले हुए मार्ग की ओर नहीं बढा। सहसा पाँच सौ तलवारें कोष से निकल आईं और शब्द करती हुई लोहे के शिरस्त्राणों को स्पर्श करने लगीं। पाँच सौ कठों से निकली हुई जयध्वनि ने पर्वतमाला को कँपा दिया। बहुत दूर पहाड पर जङ्गली हूणों ने वह जयध्वनि सुनकर अपने घोडों की गति रोक दी। वृद्ध महाबलाधिकृत की आँखों से दो बूँद आँसू निकल आये। उन्होंने फिर कहा—पुत्रो! समुद्रगुप्त से मुझे जो शिक्षा मिली थी, वह शिक्षा मैं निरन्तर पचास वर्ष से मगधवासियों को देता आया हूँ। मैं देखता हूँ कि लोग अभी तक उसे भूले नहीं हैं। पर्वत पर से असख्य हूण नदी-तट की ओर आ रहे हैं। जब तक शरीर में रक्त बहेगा, जब तक हाथों में हिलने की शक्ति रहेगी तब तक मगधवासी उत्तरापथ के इस प्रवेश-द्वार की रक्षा करेंगे।

[illegible] देता था। सिकंदर सूर और [illegible] खाँ ने बडी बहादुरी दिखलाई थी। किंतु [illegible] से ठीक कहा है "प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं"। बैरम सोचने लगा कि अकबर का राज्य उसके बिना [illegible] नहीं सकता। इसी जोम में आकर उसने [illegible] राव गाँठना चाहा किंतु "युवती शास्त्र नृपति बश नाहीं"। शासन की बागडोर हाथ में लिये हुए, सिंहासन पर बैठकर मस्तक पर मुकुट धारण किये हुए कोई भी भाग्यवान् पुरुष ऐसा अपमान नहीं सह सकता था। अकबर इस गुस्ताखी को कैसे सह सकता था।

अकबर शिकार के बहाने दिल्ली चला गया। वहाँ पहुँचकर उसने घोषणा कर दी कि राज्य का कुल काम मैंने अपने हाथ मे लिया और बैरमखाँ को अलग कर दिया। बैरमखाँ ने घबराकर मक्के जाने का विचार किया किंतु फिर उसके मन में लालच समाया। कुछ पल्टन इकट्ठी करके उसने पंजाब में बादशाही पल्टन से लडाई की। युद्ध में हारकर वह अकबर के पैरों पर गिर पडा और रोने लगा। दयावान् बादशाह ने उसको उठाकर अपनी दाहिनी ओर बैठाया और उसका पुराना पद देने को कहा। परन्तु बैरम ने लज्जा के मारे हिंदुस्तान में रहना स्वीकार नहीं किया। मक्के जाते समय गुजरात में एक पठान के हाथ से वह मारा गया। उस पठान के बाप को बैरमखाँ ने पहले कभी मारा था।

जो पै निज शत्रुहि मारिकै यह परतिज्ञा राखिहौ ।
तौ या सिंहासन पै बहुरि पग धारन अभिलाखिहौ ॥

— राधाकृष्णदास

लड़ाई एक दिन होने ही को थी तब तक एक घटना हो गई जिससे युद्ध और भी जल्दी छिड़ गया। दक्षिण विजय करके लौटते हुए मानसिंह रास्ते में महाराणा से मिलने उदयपुर आये। महाराणा ने उनका अच्छा स्वागत किया। लेकिन साथ में भोजन कराने के लिए आप खुद न बैठे। राजकुमार अमरसिंह भोजन कराने के लिए आये। यह बात मानसिंह को अच्छी नहीं लगी। आपने इसका कारण पूछा। जवाब मिला कि राणा के सर में दर्द है। मानसिंह ने क्रोध में आकर कहा "सर का दर्द असाध्य है। इसकी दवा लेकर मैं जल्द आऊँगा।"

सरदारों में से किसी ने कहा—"जरूर आना और अपने फूफा अकबर को भी लेते आना।" महाराणा मानसिंह की धमकी कब सह सकते थे। क्रोधित होकर आप बाहर निकल आये और आत्माभिमान, स्वधर्म प्रेम के भावों से प्रेरित होकर बोले—

जिन कुल की मरजाद लोभवश दूर बहाई।
जीवनमय जिन खोय दई आपनी बड़ाई॥
जिन जगसुखहित करी जाति की जगत हँसाई।
लखि जिनको मुख धीर सबै सिर रहे नवाई॥

अपनी दूरदर्शिता और राजनीतिपटुता के कारण वह जगत्-प्रसिद्ध है, बहादुरी में उसके जोड़ के बहुत थोड़े बादशाह हुए हैं, अन्य तथा विधर्मी जाति के साथ जितनी सहानुभूति अकबर ने दिखलाई है उतनी और किसी मुसलमान बादशाह ने नहीं दिखलाई है, उसका विद्याप्रेम श्लाघनीय है, पराजित शत्रुओं के प्रति उसने सदा दया दिखलाई, लेकिन उसकी कामुकता ने सब पर पानी फेर दिया। भारतवर्ष चरित्रप्रधान देश है। चाहे आज हम कितने ही गिर गये हों लेकिन हमारे साहित्य और हमारे इतिहास पुकार-पुकारकर कहते हैं कि सदाचार से गिरने की अपेक्षा पर्वत से गिरकर, अग्नि में जलकर, मर जाना अच्छा है। हमारे यहाँ विवाह-संबंध बड़ा ही पवित्र कर्तव्य माना गया है। यही कारण है कि अकबर की तरह दयावान् और उदार राजा की जगह-जगह निंदा होती है। चित्त में प्रश्न उठता है "क्या अपने पिता के समवयस्क और मित्र तथा अपने संरक्षक बैरमखाँ की विधवा स्त्री के साथ अष्टादशवर्षीय कुमार अकबर का पति-पत्नी का नाता ठीक था? क्या माता बनाकर उसका प्रतिपालन करने से उसका संतोष न होता और उसके स्वर्गवासी पति की आत्मा को शांति न मिलती?" आगे चलकर आप देखेंगे कि अकबर जब किसी से अधिक प्रसन्न होता था या उसको आदर देना चाहता था तो उसकी बेटी या बहन को अपने रनिवास में बुला लेता था, अपनी स्त्री बना लेता था। किन्तु अपनी

का हुक्म दिया। बड़े से बड़े योद्धा उदयपुर का सर्वदमन करने के लिए तैयार किये गये। इतिहासलेखक बदाऊनी भी साथ में युद्ध करने गया था। वह लिखता है "मैंने आसफखाँ से पूछा कि बादशाही और दुश्मन की फौज में कुछ फर्क नहीं मालूम होता है। हथियार किस पर चलाया जाय? आसफखाँ ने जवाब दिया, चाहे जिस तरफ़ के राजपूत पर निशाना लगे परवा नहीं, हर हालत में इसलाम को फायदा पहुँचेगा।" इससे अकबर और उसके अनुयायी मुसलमानों की नीति का ठीक पता चलता है। इससे साफ पता चलता है कि वे किसी भी राजपूत के मित्र नहीं थे। हाँ, मित्र बनकर अपना काम जरूर निकालना चाहते थे।

जयमल के लड़के और ग्वालियर के राजा रामसाह ने इस लड़ाई मे राणा की मदद की। ग्वालियर-नरेश के लड़के ने भी बड़ी वीरता दिखलाई।

महाराणा ने अपने चेतक घोड़े को मानसिंह के हाथी पर कुदाकर बर्छी मारी लेकिन वार खाली गया। शाही पलटन बदला लेने को टूट पड़ी। बहादुर झाला राणाजी के छत्र और झंडे लेकर भागा। उसने यह उपाय राणा के बचाने के लिए किया। लोगों ने झाला को राणा समझकर उस पर हमला किया और वह स्वामि-भक्त वीर मारा गया। तब तक राणा को भागने का मौका मिला। महाराणा भागे और दो मुगलों ने पहचानकर उनका पीछा किया। थक जाने पर

खुद चित्तौर पर चढाई की। किला वीर जयमल को सौंप-कर उदयसिंह प्राण लेकर अर्वली पहाड पर चले गये। अकबर ने निश्चय कर लिया था कि चाहे जैसे हो, चित्तौर के किले पर जरूर अधिकार किया जाय। इस काम में उसने जन और धन की कुछ परवा नहीं की। अपनी कूटनीति और अपनी सेना की वीरता के सिवा उसने अजमेर के फकीर पीर मुईनुद्दीन चिश्ती की मन्नत भी मानी थी। उसने कहा था कि जो मैं चित्तौर जीत लूँ तो पैदल फकीर की जियारत करूँगा।

सुरंग लगाकर चित्तौर का किला तोड दिया गया। सुरंग फूटने का शब्द पचास-पचास कोस तक चारों तरफ सुनाई पडा। तिस पर भी वीर जयमल और उसके साथी राजपूत बहादुरी से लड़ते रहे। अकबर ने निशाना लगाकर जयमल को मार डाला।

नेता के मर जाने से राजपूत हताश हो गये, किले से अग्नि की ज्वाला निकलते देखकर अकबर को आश्चर्य हुआ। किंतु साथ में विभीषण की तरह भेद देनेवाले उसके साले और उसके लडके सलीम के ससुर राजा भगवानदास जयपुरवाले मौजूद थे। उन्होंने सब बातें बादशाह को सम-झाई। हमारी माताओं और बहनों ने चिता पर अपना अग्नि-संस्कार करके पापी यवन के हाथ से अपना सतीत्व बचाया। वीर राजपूत सज धजकर केसरिया वस्त्र पहनकर

किया जायगा। इसमें सदेह नहीं कि अकबर मुसलमान था और पक्का मुसलमान था। उसके लड़के जहाँगीर ने अपनी देखी बात लिखी है कि मरते समय अकबर ने कलमा पढ़वाया और कुरान शरीफ पढ़वाकर सुना। उसने अपनी ज़िंदगी में कोई ऐसा काम नहीं किया जो मुसलमानी धर्म के विरुद्ध हो। इतना अवश्य था कि उसने दूसरे धर्मवालों का दिल नहीं दुखाया। उसने पहले सोच रखा था कि अफगान और तुर्क कभी मेरा साथ नहीं देंगे। इसलिए उसने हिंदुओं को अपनी ओर खींचने का यत्न किया। यह सब होते हुए भी युक्ति से उसने इसलाम को जो लाभ पहुँचाया वह औरङ्गज़ेब अपने कट्टरपन से नहीं पहुँचा सका। जयपुर और जोधपुर की राजकन्यायें अत्याचार और ज्यादती से मुसलमान नहीं बनाई जा सकती थीं। हिंदू वृक्ष को इन शाखाओं से औरंगजेब ऐसे बेंट इसलाम की कुल्हाड़ी में अकबर ही ने लगाये थे। मेरे विचार में दीन इलाही का ढोंग भी राजनैतिक दृष्टि से शासन दृढ़ करने के लिए और धार्मिक दृष्टि से इसलाम को सर्वप्रिय बनाने के लिए किया गया था।

दीन इलाही का संगठन कुछ कुछ वर्तमान थियासफी के ढंग पर था। मुसलमान मौलवी, हिंदू पंडित, पारसी पुरोहित और ईसाई पादरी सब अकबर की सभा में बुलाये जाते थे। सबके धर्मों से कुछ-कुछ लेकर अकबर ने फैजी, अबुल-फजल और बीरबल की सम्मति से दीन इलाही चलाया था।

ही रोको, यहाँ न आने पावे। दिन भर खूब घमासान युद्ध हुआ। सध्या-समय वीरगणों ने भी थकित हो विश्राम किया। दूसरे दिन के युद्ध के लिए इधर राजाओं में परामर्श होने लगा उधर गुरु साहब की सेना में हलुवा पूरी उड़ानेवाले पाँच सौ नागे सवारों ने अधकार में एक-एक दो-दो करके खिसकना प्रारभ किया। आश्रयप्राप्त पाँच बादशाही बागी पठान और पाँच सौ सवार गुरु साहब की सेना को अल्प समझ और राजाओं की जीत अवश्य भावी जान शत्रु से जा मिले। इस प्रकार केवल एक सहस्र बची हुई सेना के साथ गुरु साहब दूसरे दिन मैदान में जा डटे और पहले दिन की तरह आज भी लोथ पर लोथ गिरने और रक्त की नाली बहने लगी। सध्या होने पर लड़ाई बन्द हुई। तीसरे दिन गुरु साहब के तीर से दो राजाओं के मारे जाने पर राजाओं की सारी सेना शत्रु को पीठ दिखाकर भाग निकली। विजय-पताका गुरुजी के ही हाथ में रही।

इस युद्ध के पश्चात् गुरु गोविदसिहजी माता की आज्ञा शिरोधार्य्य कर पाँवटा से अपने पुराने निवासस्थान आनन्दपुर में आ विराजे। अब इन्हें रात-दिन शत्रु के चढ आने का खटका रहने लगा, पर इससे वे चिन्तित नहीं हुए और बडे उत्साह और आनन्द के साथ सैनिक बल बढाने में दत्तचित्त थे। साथ ही वे दुष्टों का दमन तथा शिष्टों का पालन करने लगे। इन्होंने सब प्रकार से अपने इर्द-गिर्द की हिन्दू-प्रजा के

गोमास और धीरे-धीरे दूसरे बहुत से मांस खाने की मनाही की गई। दीन इलाही के अनुयायियो के लिए बहु-विवाह का निषेध किया गया था।

बढते-बढते अकबर अपनी पूजा तक करवाने लगा। जैसी नमाज के वक्त सिजदा की जाती है वैसी ही अकबर के सामने होने लगी। स्वार्थ की नींव पर बनाया हुआ यह नवीन पथ अकबर के साथ ही साथ ससार से लुप्त हो गया।

मनुष्य में दोष होता ही है इसलिए अकबर मे भी कितने ऐब थे लेकिन सब बातों के देखने से कहा जा सकता है कि अकबर बहुत अच्छा बादशाह था। उसने अपनी प्रजा के साथ जो बर्ताव किया वैसा करनेवाले ससार में बहुत कम बादशाह हुए हैं। उसमें सबसे बढकर दोष की बात उसकी कामुकता थी जो बादशाहों या अमीरों में प्राय. होती है। अकबर का यह दोष भी धीरे धीरे कम हो गया था। मरने के पहले उसका जीवन सर्वथा धार्मिक जीवन हो गया था।

— मन्नन द्विवेदी

दुःखमोचन की चेष्टा की जिससे बहुत से इनके प्रिय भक्त और शिष्य हो गये और इनका राजवत् सम्मान करने लगे और इन्हें हिंदू-धर्म का रक्षक मानने लगे। न्याय, अन्याय और विवाद विषय की नालिश गुरु साहब के दरबार में आती और गुरु साहब धर्मपूर्वक न्याय कर सबको संतुष्ट कर देते। इन्हीं की शिक्षा के प्रताप से हिंदू-जाति के हृदय में भी वीरता और उत्साह की तरंगें उठने लग गई थीं और वीरगणों की भुजायें युद्ध के लिए सर्वदा फड़कती रहती थीं।

गुरु गोविंदसिंहजी की उन्नति, युद्ध में जय-लाभ और अद्भुत रण-निपुणता देखकर पहाड़ी राजा लोग चकित होगये थे और मन ही मन इनसे भय मानने लग गये थे। अब वे गुरु साहब से मित्रता करने की बात सोचने लगे। तदनुसार उन्होंने मित्रता का पैगाम इनके पास भेजा। गुरु साहब, जो स्वदेशी राजाओं से विरोध करना कभी पसंद न करते थे, इस बात से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने बड़ी सरलता से राजा भीमचन्द इत्यादि का मित्रता का संदेशा स्वीकार किया। क्योंकि इनकी आंतरिक अभिलाषा आपस की फूट को दूर करने की थी जिससे मुसलमान-गण हिन्दुओं पर अत्याचार न कर सकें। अस्तु, गुरु साहब ने इन लोगों से मित्रता कर ली, पर इन राजाओं का हृदय गुरुसाहब की ओर से साफ न था। अवश्य ही गुरु साहब की हिमायत पर इन राजाओं ने बादशाही सूबों को नियमित कर इत्यादि देना बंद कर दिया,

(५) गुरु गोविंदसिंह

औरङ्गजेब ने पाक दीन इस्लाम का प्रचार बड़ी प्रबलता से जारी कर रखा था। जो सहज में नहीं मानता वह तलवार के जोर से मुसलमान बनाया जाता था। सैकड़ों, सहस्रों, नहीं-नहीं लखों ब्राह्मण-क्षत्रियों के यज्ञोपवीत तोड डाले गये, शिखाएँ कटवा दी गईं और पाक दीन इस्लाम का बलात् प्रचार होने लगा। इन्हीं दिनों कश्मीर के कुछ ब्राह्मणों ने बहुत सताये जाकर सिक्खों के नवें गुरु प्रात स्मरणीय श्रीतेग-बहादुरजी के यहाँ जा पुकारा कि महाराज इस घोर कलि-काल में आपके सिवा हमारा रक्षक कौन है। आप ही इस प्रांत में सनातनधर्म के रक्षक प्रसिद्ध हैं। हम लोगों के परि-त्राण का उपाय बतलाइए। गुरु साहब ब्राह्मणों के दीन वचन सुन कुछ देर विचार कर बोले "ठीक है। सत्य श्रीअकाल पुरुष की यही इच्छा है। अब तुम लोग सीधे यहाँ से दिल्ली जाओ और बादशाह से जाकर कहो कि निर्बल दीन प्रजा को सताने से क्या लाभ है। इस तरह से एक-एक को मुसल-मान बनाने में बहुत समय लगेगा। इसलिए यदि आप इस काल के धर्म-गुरु तेगबहादुर से पाक दीन इस्लाम कबूल करवा सकें तो सारा प्रांत एक बार ही मुसलमान हो जायगा

पर भीतर ही भीतर इस दाँव-घात में थे कि मौका पाकर गुरु साहब को दबा दें। गुरु साहब को इसका गुमान भी न था और अपनी वीरता और उत्साह के आगे वे इस बात की कुछ परवा भी न करते थे। इन दिनों गुरु साहब के इलाके से दूर-दूर रहनेवाली हिंदू प्रजा भी बादशाही शासन की कुछ परवा न कर इन्हीं को अपना राजा मानने लगी थी। इन्हीं दिनों शाहंशाह औरंगजेब बड़े जोर-शोर से दक्षिण प्रांत में मरहठों के साथ युद्ध कर रहा था। उसकी भ्रमपूर्ण नीति ने मुगल-साम्राज्य के पाँव में घुन लगा दिया था। दक्षिण की ओर वीरवर शिवाजी और राजपूताने में राजा राजसिंह ने उसके नाकों दम कर रखा था। अब पंजाब की भी बारी आई। पंजाब के समाचार जानकर कि पहाड़ी राजा लोगों ने गुरु गोविंदसिंह की हिमायत पर मालगुजारी देना बंद कर दिया है, विद्रोही पहाड़ी राजाओं को दमन करने और उनसे प्राप्य कर लेने के लिए उसने अपने तीन सर्दारों को थोड़ी सी सेना के साथ भेजा। इन मुगलों ने पहाड़ी राजाओं को तहस-नहस करना आरम्भ किया। चारों ओर हिंदुओं पर अत्याचार और लूट-खसोट होने लगी। ऐसी कठिन अवस्था में उन राजाओं को उसी सामान्य धर्मोपदेशक गुरु की याद आई और वे भेंट लेकर गिड़गिड़ाते, अनुनय-विनय करते गुरु साहब की शरण में आये और करुणा तथा दीनता-पूर्ण शब्दों में सहायता के लिए प्रार्थना की। अत गुरु साहब ने इनकी रक्षा के

और आपको भी विशेष चिंता न होगी, क्योंकि गुरु साहब हम सबके धर्माध्यक्ष हैं, उनके स्वीकार करते ही, हम लोग मुसलमान होने में तनिक भी विलम्ब न करेंगे। आप लोग जाकर बादशाह से ऐसा कहिए। फिर जो अकाल पुरुष की इच्छा होगी, वही होगा।" ब्राह्मणों ने दिल्ली जा गुरु साहब का संदेशा ज्यों का त्यों बादशाह को कह सुनाया। बादशाह ने गुरु तेगबहादुर को दर्बार में हाजिर होने का हुक्मनामा लिख भेजा। गुरु साहब तो इसके लिए तैयार ही थे। अस्तु, उन्होंने प्यारे पुत्र नौ बरस के बालक गोविंदसिंह को बुला भेजा और अपने हाथ से गुरु की गद्दी पर बैठाकर कहा—'बेटा, आज से तुम अकाल पुरुष के सेवक हुए। सनातन-धर्म का, श्री वाह गुरु को पवित्र आज्ञा पालन करना और उसका प्रचार करना तुम्हारा परम धर्म होगा। दुष्ट प्रबल भी हो तो उसका दमन करने में कुछ उठा मत रखना और धर्मात्मा निर्बल दीन भी हो तो उससे सदा डरते रहना और उसका सम्मान करना। परब्रह्म तुम्हारी रक्षा करेगा।"

इस प्रकार उपदेश देकर सबसे बिदा हो पाँच शिष्यों के साथ वे दिल्ली जा पहुँचे और बादशाही दर्बार में हाजिर हुए। बादशाह ने उनसे पाक इस्लाम धर्म को स्वीकार करने के लिए अनुरोध किया, परन्तु उनके अस्वीकार करने पर उन्हें बंदीगृह में भेज दिया। दो मास तक नाना प्रकार के कष्ट देने और पाँच शिष्यों को बड़ी निर्दयता से मार डालने पर भी

लिए अपनी सेना भेजी और शत्रुओं का बल बहुत अधिक जानकर गुरु साहब स्वय युद्ध क्षेत्र में आ विराजे और सेना का सचालन करने लगे। इनकी अध्यक्षता मे सिक्ख लोग बडी प्रबलता से आक्रमण करते थे और मुगलों की सेना क्षीण होती जाती थी। एक-एक सिक्ख की तलवार दस-दस मनुष्यों को यमलोक भेज रही थी। परिणाम यह हुआ कि मुगल-सेना एकाएकी पीछे फिरकर भाग निकली।

गुरु साहब विजय पा अपने निवासस्थान आनदपुर को लौट आये। बादशाही सूबेदार दिलावरखाँ ने, जो कि लाहौर में था, जब इस हार की खबर सुनी तो वह बहुत ही झुँझलाया और नवीन सेना एकत्र कर पहाडी राजाओं पर चढ आया और अपने पुत्र को एक प्रबल सेना के साथ गुरु साहब की ओर आनदपुर भेजा। इस सेना ने उन पर एकदम चढाई कर दी। गुरु साहब भी तैयार थे। वे अपनी सेना के साथ मैदान में आ डटे। बडे-बडे मुगल वीरों को गुरुजी के तीरों ने यमलोक भेज दिया। बहुत कुछ जोर मारने पर भी मुगल-सेना शाम तक कुछ न कर सकी और अँधेरा हो जाने के कारण युद्ध बन्द किया गया। गुरु साहब की सेना और मुगलों के बीच एक छोटी सी पहाडी नदी बहती थी। मुगल-सेना नदी के ठीक नीचे विश्राम कर रही थी कि रात्रि में वह छोटी सी नदी एकाएकी मुगलों की तरफ इस तेजी से बढी और ऐसे जोर का प्रवाह आया कि जब तक लोग जागें, सारी सेना अथाह जल में

डूबकर बहने लगी। कुछ पता भी न लगा कि बहकर वह कहाँ चली गई। इस समाचार को सुनकर दिलावरखाँ बहुत नाराज हुआ और दो सहस्र नवीन सेना गुरु साहब पर चढाई करने के लिए उसने भेजी। परन्तु यह फौज सिक्खों से हारकर पीछा दिखा भाग गई। पर दिलावर को चैन कब था। उसने पुन बडे-बडे मुगल सर्दारों के साथ चढाई की। बहलान नामक ग्राम के समीप एक बडी भारी लडाई हुई पर इसमें भी जीत सिक्खों की हुई।

बार-बार की हार से परेशान हो झुँझलाकर दिलावरखाँ ने सारा समाचार बादशाह औरङ्गजेब को लिख भेजा। बादशाह ने एक बडी सेना के साथ शाहजादा मुअज्जम को पजाब के विद्रोहियों का दमन करने के लिए भेज दिया। इन लोगों ने पहाडी राजाओं की बडी दुर्गति की। इनका घर, माल, खजाना सभी लूट लिया, मकान और किले बरबाद और नेस्त-नाबूद कर दिये तथा कइयों की दाढी-मोछ मुँडवा गदहे पर सवार करा गश्त करवाया। गुरु साहब पर भी बडे जोर-शोर से चढाई की गई और उनके स्थान आनंदपुर में खूब लूट-पाट मचाई गई। इस समय गुरु साहब के पास बहुत कम सेना थी, इसलिए बहुसख्यक मुगलों का सामना कर व्यर्थ अपना बल क्षय करना उन्होंने उचित न समझा और वे किला बन्द कर चुपचाप उसी में बैठे रहे, पर रात्रि होने पर एकाएक किले से बाहर निकलकर उन्होंने मुगलों पर ऐसा छापा मारा

उन लोगों ने जान बचाई। इस बार सिक्खों ने दस कोस तक शत्रुओं को खदेड़ा।

सूबा सरहिंद और सूबा लाहौर ने, आपस में परामर्श कर कि हम लोग केवल अपनी सेना से सिक्खों को हरा नहीं सकेंगे, सारा समाचार दिल्ली में शाहशाह औरंगजेब को लिख भेजा। औरंगजेब यह समाचार पा बड़ा चकित हुआ और क्रोध की जगह अब उसे चिंता ने आ घेरा। बहुत कुछ सोच विचारकर उसने पंजाब के कुल सूबों के नाम एक बार ही आनंदगढ़ पर चढ़ाई करने का आज्ञापत्र भेजा और बिना गोविंदसिंह को मारे या उसके किले को तहस-नहस किये पीछे लौटने पर सख्त सजा देने की धमकी दी। बादशाही आज्ञा पा सब सूबों के हाकिम, पर्वतीय राजाओं के साथ, किले पर चढ़ आये। अगणित मुगल सेना बादलों की तरह आनंदगढ़ पर उमड़ आई।

लक्ष से अधिक सेना देखकर गुरु गोविंदसिंह कुछ चिंतित हुए, पर 'अकाल पुरुष की जो मर्जी', यही संतोष कर वे युद्धार्थ प्रस्तुत हुए और सारे सिपाहियों को वीरोचित वाक्यों से उत्साहित कर युद्ध के लिए तैयार किया। तोप दागती हुई मुगल-सेना जब किले के बहुत पास पहुँच जाती तब एक बार ही किले पर से वह गोले-गोली और तीरों की वर्षा होती कि फिर उसे हजारों कदम पीछे हट जाना पड़ता था। दिन भर तो यों ही युद्ध होता रहता और रात्रि को जब मौका

कि सबके होश-हवास गुम हो गये और उन लोगों ने भाग-कर अपनी जान बचाई। सिक्खों ने आठ कोस तक शत्रुओं का पीछा किया और उनको भली भाँति परास्त कर आनद-पूर्वक अक्षत शरीर घर लौट आये।

शाहजादा मुअज्जम ने देखा कि मामला साधारण नहीं है। अस्तु, वह बड़े जोर-शोर से चढ़ाई करने की तैयारी करने लगा। इसी बीच में गुरु-घर का एक पुराना सेवक और भक्त हाथ जोड़ शाहजादे के सामने आया और बोला कि, "हुजूर, गोविंदसिंह एक खुदापरस्त साधारण फकीर है, उस पर बादशाही ताकत की आजमाइश करना सरासर भूल है। यदि आप जीत गये तो वह कल लँगोटी पहिन फिर जगलों में जाकर भजन करने लगेगा। खुदा न करे, कहा हुजूर की हार हुई तो बादशाही ताकत की सख्त बदनामी होगी। इसलिए मुनासिब यही है कि उससे छेडछाड न की जाय।" शाह-जादे ने कहा, "अच्छा, यदि आगे से वह शातिपूर्वक रहना स्वीकार करे तो मैं उसे माफ कर सकता हूँ।" अस्तु, गुरु साहब से शाति के पैगाम चलने लगे। इधर पहाड़ी राजाओं ने अवसर पा अपना पहला वैर साधने का सकल्प किया और गुरु साहब से कहला भेजा कि "आपके सिक्ख लोग अक्सर हमारे इलाकों में आकर लूट-पाट किया करते हैं, यह बहुत बुरा है। आपको इसका बहुत जल्द इतिजाम करना चाहिए क्योंकि आपके पैर दिन पर दिन अधिक फैलते

पाते, गुरु साहब किले से बाहर निकलकर मुसलमानी सेना पर छापा मारते, पर बार-बार के अनुभव से मुगल लोग अब विशेष सावधान हो गये थे और रात्रि में कड़ा पहरा रखते तथा वरदी पहने और हाथ में बंदूक लिये ही सोते थे। इसी तरह लड़ते-लड़ते, सोते-जागते कई सप्ताह व्यतीत हो गये। बहुत सी बादशाही सेना मारी गई, घायल हुई और शेष बहुत थकित हो गई। अस्तु अब लड़ना छोड़कर वह केवल किले को घेर बैठ रही। आनंदगढ़ के चारों तरफ कई कोस तक मुसलमानी सेना का पड़ाव जमा हुआ था। लड़ते लड़ते जब कई सप्ताह व्यतीत हो गये, और किले में संचित की हुई सारी खाद्य-सामग्री समाप्त हो गई और बाहर से रसद-पानी भीतर लेने की चेष्टा भी सफल न हो सकी तो कई रोज तक केवल भाजी-तरकारी और सूखे चने चबाकर भी हमारे गुरु-भक्त सिक्ख जवान डटे रहे। जब यह भी नहीं रहा तब दो-एक दिन केवल पानी पर ही गुजारा किया। अंत में सिक्ख लोग घबड़ाने लगे और गुरु साहब से किला छोड़ने की प्रार्थना की। गुरु साहब ने उनसे धैर्य धरने के लिए कहा पर सिक्खों ने मैदान में लड़कर मरने की अपेक्षा किले में भूखे-प्यासे सड़ना अच्छा नहीं जाना और वे क्षुधा-तृषा से आतुर बाहर निकलने के लिए जिद करने लगे। विवश होकर गुरु साहब ने एक प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत करवाकर गुरु-शिष्य का नाता तोड़ बाहर जाने की आज्ञा दी। बहुत से लोग तो दस्तखत

जा रहे हैं। यदि यों ही पैर फैलाना और लोगों पर अत्याचार करना अभीष्ट हो तो हम लोगों के इलाके से दूर और कहीं जा रहिए। नहीं तो हम लोगों को विवश हो आपसे विरोध करना पड़ेगा।" गुरु साहब इस संदेश को पा बड़े चकित और क्रोधित हुए। इनमें से अवसर पड़ने पर कइयों को उन्होंने सहायता की थी, अब यह कृतघ्नता देखकर उन्हें बड़ा क्रोध आया। एक ओर बादशाही सेना पड़ी हुई थी और इस मौके पर युद्धाग्नि सुलगाकर ये लोग गुरु साहब को भस्म कर देना चाहते थे, क्योंकि गुरु साहब का प्रबल होना इन लोगों को बहुत खटकता था। गुरु साहब ने राजाओं को उत्तर लिख भेजा कि "भारत-भूमि पर मेरा उतना ही हक है जितना आप लोगों का और जिस भूमि पर मैं रहता हूँ वह मैंने द्रव्य देकर खरीदी है, कुछ आपसे भीख नहीं माँग ली है। सिक्खों से आप लोगों ने कुछ अनुचित व्यवहार किया होगा, इसी कारण उन्होंने आपके इलाकों में लूट-पाट मचाई होगी। अकारण ऐसी कार्रवाई करने से मेरी सख्त मुमानियत है। उचित तो यही था कि इस समय आप लोग मेरी सहायता में तत्पर होते, सो उलटे विरोध पर उतारू हुए हैं। यह बड़ी लज्जा की बात है। खैर, इसका फल भी हाथोंहाथ पाइएगा।" राजा लोगों के क्रोध में घी पड़ा। उन्होंने लिख भेजा कि बहुत जल्द यह इलाका छोड़कर चले जाओ नहीं तो बड़ी बेइज्जती के साथ निकाले जाओगे। गुरु साहब

कर बाहर चले गये, पर गुरु के पचास सच्चे भक्त अब भी गुरु साहब के साथ रहे। उन्हें देखकर गुरु ने कहा—"धन्य है वीरो! धन्य हो तुम और धन्य हैं तुम्हारी माताएँ, धीरज धरो, मैं तुम्हें भूखे-प्यासे मरने न दूँगा। तुम उस मान्य और अमर राज्य के अधिकरी होगे, जिसका अधिकारी पृथ्वी पर विरला ही हुआ होगा।" यह कह आधी रात के समय अपनी माता, स्त्री और पुत्रों के साथ गुरु साहब किले के बाहर निकले और एक सूची-व्यूह रच भागने लगे। मुगलों ने इनको भागते देख लिया और एक स्थान पर अवसर पा उन्हें बिलकुल घेर लिया। अब व्यूह भग हो गया। गुरु साहब अपने तीन पुत्रों के साथ अलग पड गये और उनके दो छोटे पुत्र और माता अलग हो गये, जिनकी डोली कई सिक्ख योद्धा बचाकर दूर ले गये और उसे एक ब्राह्मण के सुपुर्द कर आप गुरु साहब को खोज में वापस आये। गुरु साहब शत्रुओं के सिर पर से घोडी उछाल कई सिक्ख सवार और अपने तीनों लडकों के साथ एक ओर निकल गये और उन्होंने रात्रि ही में चमकौड नामक ग्राम में, जहाँ उनका एक छोटा सा किला था और जिसमें ५०० सिक्ख-सेना भी थी, जा विश्राम लिया।

मुगलों ने भी गुरु साहब का पता लगा चमकौड के किले को आ घेरा। यहाँ भी भीतर से सिक्ख जवानों ने बड़ी सर-गरमी से युद्ध जारी रखा। पर सख्या थोडी रह जाने के

ने केवल इतना ही लिखा कि हम तैयार हैं, जो अकाल पुरुष की मर्जी। इस प्रकार राजाओं और सिक्खो में छेडछाड जारी रही। बादशाही युद्ध बद रहने के कारण इस समय तक गुरु साहब के पास आठ हजार सेना तैयार हो गई थी। उधर राजाओं ने भी बीस सहस्र सेना एकत्र कर बडी धूमधाम से धावा करके गुरु साहब के निवासस्थान आनद-पुर का किला चारो ओर से घेर लिया। गुरु साहब किला बद कर भीतर ही बैठे रहे। बाहर मैदान में लडकर सैन्य ध्वस करना उन्होंने उचित न समझा। केवल किले की बुर्ज और दीवारो पर से तोपो और बदूकों की बाढ दगने लगी। दिन भर खूब अग्नि-वर्षा हुई। जब दिन भर के युद्ध के बाद शत्रु थकित हो सो गये तब गुरु साहब ने किले से बाहर निकलकर शत्रु पर एकाएक हमला कर दिया। इसी प्रकार दिन को किले के भीतर तोपों से लडते और रात्रि को छापा मारते। - एक दिन राजाओ ने एक मतवाले हाथी को शराब पिला, सिर पर एक बडा भारी लोहे का तवा बाँध सूँड में तलवार पकडवा किले का फाटक तोडने के लिए भेज दिया। गुरुजी की आज्ञा से उनके एक शिष्य ने ताककर ऐसी बर्छी मारी कि वह लोहे के तवे को भेदती हुई हाथी के मस्तक में घुस गई। अब तो वह हाथी पीडा से चिघारता हुआ पीछे को ओर लौटा और अपने राजाओं की सेना को रौंदने लगा। गुरु साहब ने इस अवसर पर फौरन किले से बाहर निकलकर

कारण गुरु साहब ने सोचा कि अच्छे-अच्छे बहादुर निशाने-बाज बाहर जावें और मुगल सेनापतियों का संहार करें। गुरु साहब का बड़ा लड़का अजीतसिंह, जिसकी अवस्था १८ वर्ष की थी, सबसे पहले तलवार लेकर रणक्षेत्र में कूद पड़ा, और मुगल-सेना का नाश करता हुआ एक बार ही पाँच-सात गोलियों के लगने के कारण वीर-गति को प्राप्त हुआ। पश्चात् उसके छोटे भाई जुझारसिंह ने, जिसकी अवस्था १४ वर्ष की थी, अपने भाई का अनुसरण किया। अंत समय में भी तलवार दृढ मुट्ठी में बंद थी और मुख पर दृढता का भाव ज्यों का त्यों विद्यमान था। ये दोनों वीर बालक जब शांत हुए तब संध्या हो गई थी। गुरु साहब, प्रफुल्लमुख, आनंदचित्त और उद्वेगरहित थे। उन्होंने शिष्यों को सामने बैठाकर कहा कि "भाइयो, दोनों कुँवर तो वीर-गति को प्राप्त हुए, अब हम लोगों की बारी है। प्रातःकाल बाहर निकलकर शत्रुओं पर एक बार ही टूटेंगे और उन्हें बता देंगे कि क्षत्रिय वीर, भीम और अर्जुन की संतान, किस तरह युद्ध करते और मृत्यु को तुच्छ समझते हैं। इसकी मुझे कुछ चिंता नहीं कि अब मैं आज मरूँ या कल।" गुरु साहब की उदासीन और दृढता-सूचक वाणी सुनकर उपस्थित शिष्य-मंडली कुछ विचलित हुई। उसने आग्रहपूर्वक गुरु साहब से शत्रुओं के हाथ से बचकर निकल जाने की प्रार्थना की और कहा—"इस समय आपके प्राण देने से सिक्ख जाति का बड़ा अपकार

शत्रुओं पर आक्रमण कर दिया। इस दोहरी आपत्ति से सेना घबड़ाकर सामना करना छोड़ भाग निकली। जब सब सेना एकत्र होकर व्यूहबद्ध होने लगी तब सिक्ख लोग फिर किले के भीतर आ घुसे। अब की बार राजाओं ने एक अनोखी चाल चली। एक आटे की गाय बनवाकर उसके गले में एक पत्र बाँधा। उसमें लिखा था कि आपको इसकी कसम है कि यदि किला छोड़कर मैदान में न आ जाओ। गुरु साहब ने इसकी कुछ परवा न की। पर माता के बहुत जिद करने के कारण मातृ-भक्त गोविंदसिंह ने किला छोड़ एक टीले पर मोरचा लगाया। यहाँ दोनों ओर से खूब घोर युद्ध हुआ। सिक्ख जवानों की वीरता के आगे पहाड़ियों को पराजित होकर भागना ही पड़ा। अब तो ये पहाड़ी राजे बड़े परेशान हुए। सूबा सरहिंद के नवाब के पास जा इन लोगों ने पुकार की कि हुजूर, देखिए गोविंदसिंह ने हमारी क्या दशा की है, अब आपकी सहायता बिना काम नहीं चलेगा। अस्तु, बीस हजार युद्ध का खर्च देने पर नवाब ने दो-तीन हजार अच्छी सुशिक्षित सेना दो अनुभवी मुगल सर्दारों के अधीन इन लोगों के साथ कर दी और इन लोगों ने आते ही गुरु साहब पर धावा बोल दिया। इस समय गुरु साहब कर्तारपुर में थे। दिन भर की लड़ाई के बाद गुरु साहब कर्तारपुर के किले को सुरक्षित न समझ एक गुप्त मार्ग से निकलकर रातोंरात सारी सेना के साथ

होगा। आपने जो काम उठाया है वह पूरा न हो सकेगा। हम लोग मरें तो भले ही मरें, पर खालसा धर्म के मंगलार्थ आपकी शरीर-रक्षा नितांत प्रयोजनीय है।" अस्तु, गुरु साहब ने शिष्यों का प्रस्ताव स्वीकार किया और किसी प्रकार थोड़े से साथियों को लेकर मालवा प्रांत की ओर रवाना हो गये और घूमते-फिरते रायकोट पहुँचे।

उधर गुरु साहब की माता और दोनों छोटे बच्चों को समझाता-बुझाता वह ब्राह्मण अपने घर ले आया। दो दिन तक ये लोग वहाँ आनंदपूर्वक रहे पर तीसरे दिवस माताजी के पास एक जवाहिरात की पेटी, जिसमें बहुमूल्य रत्नों के आभूषण थे, देख ब्राह्मण देवता की नीयत में फर्क आ गया। एक दिन देवता ने उस संदूकची को गायब कर दिया और भेद छिपाने के विचार से कोतवाली में जा खबर दी कि "बादशाही बागी गुरु गोविंदसिंह का परिवार मेरे घर में आ छिपा है। मैंने उन्हें आश्रय तो दिया पर इस इच्छा से कि उनकी गिरफ्तारी में सुभीता हो। आप जो चाहें सो कीजिए। मैं बादशाही रैयत होकर नमकहरामी नहीं कर सकता। इसलिए मैंने मौका देखकर खबर कर दी।" यह खबर पाकर कोतवाल साहब अपने अनुचरों के साथ ब्राह्मण देवता के घर आ धमके और गुरु साहब की माता और दोनों बच्चों को गिरफ्तार कर ले गये और सूबा सरहिंद के पास सारी रिपोर्ट लिख भेजी। उसने जवाब भेजा कि फौरन ही सवारों के साथ

आनंदगढ़ में आ गये। शत्रुओं ने इसे भी घेरना आरंभ किया। अब की बाहर निकलकर सिक्ख जवान ख़ूब लड़े और सूबे सरहिंद की सेना को चार कोस तक पीछे हटा दिया। पर फिर उन्हें स्वयं पीछे लौटना पड़ा और सब लोग किले में आ प्रविष्ट हुए। अबकी शत्रुओं ने किला अच्छी तरह से घेर लिया। आने जाने के सारे मार्ग अवरुद्ध कर दिये। पंद्रह दिवस यों ही व्यतीत हो गये, पर न तो किले का फाटक टूटा और न मुसलमानी सेना ही हटी। किले के भीतर का रसद-पानी चुकने लगा था। दाल-रोटी की कौन कहे, सिक्ख लोग एक-एक मुट्ठी चने चबा-चबाकर मोरचों पर डटे हुए थे, पर अब वह भी चुक गया और भूखों मरने के दिन आये। दो एक दिन केवल पानी पर गुजारा चला। जब कोई सहारा न रहा तब गुरु साहब ने फाटक खोल दिया और व्यूहबद्ध हो पृष्ठ और पार्श्व का पूरा बचाव करते हुए वे बाहर मैदान में निकल आये। व्यूह-रचना की चतुराई और रण-कौशल से गुरु साहब लड़ते-भिड़ते, शत्रुओं को घुमाते-फिराते बची हुई सेना के साथ सतलज पार हो गये। अब की लड़ाई में गुरु साहब की हार हुई परन्तु इनकी वीरता और रण निपुणता की धाक बैठ गई।

कुछ समय पीछे गुरु साहब एक दर्बार कर अपने शिष्यों को एक भावी बड़े युद्ध के लिए तैयार रहने की सूचना देकर अपने घर आनंदपुर को वापस आये। अवसर पाकर गुरु

अच्छी तरह हिफाजत में इन लोगों का यहाँ चालान कर दो। उसी प्रकार कोतवाल ने उनका चालान कर दिया। गुरु साहब के निस्सहाय परिवार को अपने कब्जे में आया जान सूबा अपने वैर साधने का अच्छा मौका हाथ आया समझ दीवान और मुसाहिब काजी इत्यादि को इकट्ठा कर सलाह करने लगा। सबों ने कहा कि बहुत अच्छा मौका हाथ लगा है और इस समय गोविंदसिंह के हृदय पर ऐसी चोट पहुँचानी चाहिए कि फिर वह किसी लायक न रहे। पहले तो इन लोगों से दीन इस्लाम कबूल करवाना चाहिए, यदि न मानें तो कत्ल करवाना चाहिए। यही शरह की आज्ञा भी है। यही सलाह तय करके उन दोनों बालकों को सूबा ने अपने दरबार में बुलाया। ये दोनों बालक जब पृथक् होने लगे तब माताजी ने, जो बड़ी बुद्धिमती थीं, पौत्रों को गले से लगा मुख चूम सिर पर हाथ रखकर कहा—"प्यारे लाल ! कुछ घबराना मत। अपने धर्म पर दृढ रहना। अकाल पुरुष तुम्हारा रखवारा है।" फिर उन दोनों बालकों को बिदा किया। उनके चले जाने पर उनका हृदय आँसू न रोक सका। वे बड़ी विकल होकर क्रंदन करने लगीं। फिर यदि बच्चों पर कुछ आपत्ति आवेगी तो निश्चय प्राण दूँगी, ऐसी दृढ प्रतिज्ञा कर कुछ शांत हो चुपचाप बैठी रहीं। इधर दोनों बच्चे, जिनमें से बड़ा नौ और छोटा सात वर्ष का था, सूबा सरहिंद के दर्बार में लाये गये। ये दोनों सुकुमार बालक निर्भय,

साहब मेलों पर जाकर भारत-मात्र के हिंदुओं में सनातन-धर्म की रक्षा और वीर-व्रत का उपदेश किया करते थे। लाखों नर-नारी इनके उपदेश से पावन होते और कितने ही खालसा-धर्म अंगीकार कर गुरु के बल को बढ़ाते। सूर्य्य-ग्रहण का मेला समाप्त होने पर कुरुक्षेत्र से लौटते हुए गुरु साहब चमकौर ग्राम में आकर ठहरे। दैवात् उधर से दो सहस्र बादशाही सेना जा रही थी। गुरु साहब को डेरा डाले हुए देखकर उन लोगों ने इन पर हल्ला बोल दिया, पर हमारे सिक्ख सवार बेखबर न थे। उन्होंने जमकर वह तलवार के जौहर दिखलाये कि मुगलों को मुहासरा छोड़कर सीधे लाहौर का मार्ग लेना पड़ा और गुरु साहब सीधे आनंदपुर को चले आये।

जब पहाड़ी राजाओं ने, जो इनके कट्टर शत्रु थे, यह समाचार सुना कि गोविन्दसिंह फिर आनन्दपुर में लौट आया और बड़े ठाठ-बाट से युद्ध की तैयारी कर रहा है तब उनका ख़ून उबलने लगा। अकेले लड़कर जय पाना असंभव है ऐसा उन्हें अनुभव हो चुका था और गोविंदसिंह का जोर पकड़ते जाना भी उन्हें बड़ा अखरता था। इसलिए उन्होंने बादशाह औरंगजेब को यह पत्र लिखा कि 'हुज़ूर, आपकी सलतनत में अब तक हम लोग अमन-चैन से रहते थे, कोई भी उँगली दिखानेवाला न था, पर अब एक बला ऐसी आई है जिससे हम लोगों का जान-माल हर दम खतरे में रहता है। वेग-

बहादुर नाम का एक फ़कीर शाही हुक्म से बागी कहलाकर मरवाया गया था, यह उसी का लडका गोविंदसिंह है जिसने यह आफत बरपा कर रखी है। इसने एक नया मजहब चलाया है। वह अपने चेलों को कवायद और लडाई के फन में होशियार करके अपनी फौज में भरती कर लेता है, और नगदी रुपयों के साथ गोली-बारूद भी अपने चेलों से भेंट लेता है जिससे इसके पास बहुत सी फौज भी इकट्ठी हो गई है तथा हथियार और साज-सामान की भी कमी नहीं रही है। इसने कई मज़बूत क़िले भी बनवा लिये हैं और अपने सिपाहियों की बदौलत, जिनमें इसने एक नई रूह फूँक दी है, यह किसी को कुछ नहीं गिनता। बडे-बडे लुटेरे, डाकू और बादशाही बागी इसके साथ हो गये हैं। वे बे-रोक-टोक लूट-पाट कर लोगों का सर्वनाश कर रहे हैं। हम लोग इससे बहुत तंग आ गये हैं। कई बार हम लोगों ने मिलकर इस पर चढाई भी की, पर इसकी दिलेरी और चालाकी से हारकर हम लोगों को पीछे हट जाना पडा। यहाँ तक कि सूबा सरहिंद की मदद भी कुछ कारगर न हुई। इस शैतान की ताकत अगर एकदम जड से न उखाड दी गई तो, जैसा कि इसका मनशा है, यह किसी रोज आपकी सलतनत में भारी गदर मचायेगा। हिन्दुओं को यह आपके खिलाफ उभाड़ता और उन्हें पट्टी पढाया करता है। अभी से उसने अपने को सच्चा बादशाह मशहूर कर रखा है", इत्यादि-इत्यादि।

बगल में बैठाएगा, उम्दा पोशाक और जवाहिरात के गहने तुम्हारे बदन पर होंगे। हाथी, घोड़े और सैकड़ो गुलाम तुम्हारी तावेदारी में हाजिर होंगे, चाहे जितनी खूबसूरत लड़कियो से शादी कर सकोगे। अब विचार कर देखो, क्या इतनी मौज का सामान पाकर भी तुम मुसलमान होना नहीं चाहते ?

जोरा०—हमारे गुरु का उपदेश है कि "धर्म छोड़कर यदि स्वर्ग भी मिलता हो तो वह नरक के समान समझना।" इसलिए तुम्हारी इस मौज को मैं नरक के समान समझता हूँ।

सूबा—अरे लड़के, तू क्या पागल हो गया है जो बहकी-बहकी बाते करता है। मुसलमान नहीं होगा तो क्या जान गँवावेगा ?

जोरा०—जान क्यों जायगी ?

सूबा—हमारी किताब का यही हुक्म है कि जो मजहब कबूल न करे उसे मार डालना चाहिए।

जोरा०—क्या मुझसे युद्ध करेगा ? ला, मेरे हाथ में तलवार दे, गुरु का बच्चा युद्ध में जान जाने से नहीं डरता।

सूबा—अरे बच्चा, तू निरा भोला है, युद्ध नहीं करना होगा। जल्लाद की तलवार तुम्हारा सिर काटकर फेंक देगी। सोच और समझ। अगर अपने को इस आफत से बचाना चाहता है तो मुसलमान होकर ऐशो-आराम को भोग। नहीं तो वही दुर्दशा होगी।

यह सब तो उन्होंने पत्र-द्वारा लिखा फिर स्वयं भी शाही दर्बार में पहुँच गये और ऊपर लिखा वृत्तांत मुँह-ज़बानी शाह-शाह को सुनाया। बादशाह औरंगजेब पंजाब की इस नई आपदा का हाल सुनकर बहुत झल्लाया और तत्काल ही उसने सूबा सरहिंद के नाम शाही हुक्मनामा भेजा कि "बागी गोविंदसिंह को पकड़कर फौरन् दर्बार में हाजिर करो" और साथ ही कुछ फौज भी सूबा सरहिंद की सहायता के लिए भेजी गई। अस्तु, सूबा सरहिंद पहाड़ी राजाओं के साथ शाही फौज लेकर बड़ी धूमधाम से आनंदपुर पर चढ़ आया।

गुरु साहब को पकड़कर ले जाने की शाही आज्ञा की खबर सिक्खों को मिल गई थी इसलिए बहुत से योद्धा इस समय वहाँ इकट्ठे हो गये थे और गुरुजी के लिए सब कुछ करने को तैयार थे। बादशाही सेना के आते ही गुरु साहब भी मैदान में निकले और तुरंत ही भयंकर युद्ध छिड़ गया। पाँच दिन के युद्ध में मुगल सेना बहुत थक गई थी इसलिए सिक्खों के अंतिम प्रबल वेग को न सँभाल सकी। उसके पैर उखड़ गये। सारी बादशाही और पहाड़ी राजाओं की सेना व्यूह भंग करके भाग निकली। इस युद्ध में गुरु साहब की पूरी जीत हुई और बादशाही सेना को एक साधारण बागी के सामने लज्जाजनक हार खानी पड़ी।

इस हार का संवाद सुनकर लज्जा और क्रोध से औरंग-ज़ेब के सिर में चक्कर आ गया। उसने तत्काल ही लाहौर

जोरा०—अच्छा! तू मेरे हाथ में तलवार नहीं देगा और यों ही मेरा सिर कटवाकर मरवा डालेगा। हाँ, ठीक है, माताजी कहती थीं कि मेरे दादा गुरु तेगबहादुरजी भी यों ही मारे गये थे और उन्होंने मुसलमान होना मंजूर नहीं किया था। अरे पापी, ले सुन ले मैं उसी गुरु का पोता हूँ। मैं भी उसी तरह कत्ल होऊँगा पर मुसलमान नहीं होऊँगा।

सूबा—भोले बच्चे, तेरे सिर पर क्या खब्त सवार है। जरा सी जिद के सबब जान गँवाता है।

जोरा०—तुम तो समझदार हो, तुम्हीं अपनी जिद क्यों नहीं छोड़ते और मुझे बरजोरी क्यों मुसलमान बनाया चाहते हो?

सूबा—अरे नादान! क्या तुझको नहीं बतलाया गया है कि यह हमारी किताब का हुक्म है?

जोरा०—तो फिर बार-बार तू ही मुझसे क्या पूछता है। क्या मैंने तुझे नहीं कहा कि हमारी किताब का भी हुक्म यही है और गुरु की शिक्षा भी यही है कि चाहे जो हो, चाहे कितने ही कष्ट से मरना पड़े, धर्म नहीं छोड़ना।

सूबा—क्यों नाहक मरते हो?

जोरा०—नाहक तो तेरे ऐसे अधर्मी मरेंगे, मैं तो अपने धर्म के लिए, सत्य श्री अकाल पुरुष के नाम पर मरता हूँ और यह नाहक नहीं। ऐसे मरने के लिए मुझे गुरु का उपदेश भी है। मेरे कई पुरखा लोग इसके लिए प्राण दे चुके हैं

श्रौर कश्मीर के सूबों के नाम शाही फरमान भेजा कि "अभी मारामार आनदगढ पर चढाई करके उसको ईंट से ईंट बजा दो और बागी गोविदसिंह का सिर काटकर हाजिर करो।" अब क्या था, अब तो लाहौर श्रौर कश्मोर दोनों सूबों की पचास हजार सेना ने आन की आन में आनदगढ़ का किला आ घेरा।

गुरु साहब इसके लिए तैयार थे। उन्हें खूब मालूम था कि इस युद्ध में वारा-न्यारा होगा, इसलिए उन्होंने बहुत सी सेना तथा अन्य आवश्यक सामग्री एकत्र कर रखी थी। पचास हजार के मुकाबले में कुल अठारह हजार सेना के साथ गुरु साहब ने मुकाबला करने की ठानी। केवल आनदगढ ही में सारी सेना को बद रखना उचित न जान श्रौर-श्रौर किलों की रक्षा का भी उन्होंने यथोपयुक्त प्रबध किया, क्योंकि उन्हें पता लग गया था कि बादशाही सेना आनदगढ ही पर दबाव डालेगी। ऐसी हालत में बाहर छिपी हुई कुछ सेना का रहना बहुत मुनासिब है जो मौका पडने पर छापा मारकर शत्रुओं को दोनों ओर से घर दबावे। इतनी बडी सेना एक बार चल-विचल होकर पीछे फिर मैदान में टिक न सकेगी। गुरु साहब की इस नीति श्रौर रण-चातुरी के कारण शत्रुओं को सिक्खों की सेना का अदाज ही न लग सका श्रौर युद्ध करना तो दूर रहा, घबडाकर उन लोगों से अच्छी तरह भागते भी न बन पटा। ज्यों त्यों भागकर

और मेरे पूज्य पिताजी भी सहस्त्रों यवनों को मारकर अब भी इसी लिए अपने प्राणों को न्योछावर करने के लिए तैयार हैं। उसी कुल में जन्म लेकर, उसी पिता का पुत्र होकर, यदि धर्म पर प्राण न्योछावर करने से डरूँ तो मुझे धिक्कार है।

सूबा—तुम बडे हठी हो। अच्छा तुम्हें एक घंटे का मौका दिया जाता है, देखो खूब सोचो और समझ के जवाब दो।

यह कहकर सूबा सरहिंद ने फिर छोटे कुमार फतहसिंह को, जो केवल सात वर्ष का था, निराले में ले जाकर पूछा, "क्यो बच्चे, तुम्हें भी भाई की तरह मरना मंजूर है या मुसलमान होगे ?" इस छोटे कुमार ने भी यही जवाब दिया, "मैं मुसलमान होऊँगा क्यों ? मैं तो भैया के संग जाऊँगा।" अब तो सूबा बडा चकित हुआ और निराले में सब सभासद् और काजियो को लेकर पुन विचार करने लगा और बोला "न जाने गोविंदसिंह की शिक्षा में क्या जादू का असर है जो नादान बच्चो को भी ऐसा जोशीला और मजहब का पक्का बना देती है।" एक दूसरा सभासद् बोला—"चाहे जो हो, इनकी तालीम है तारीफ लायक।" तीसरे ने कहा—"अजी क्या कहते हो, इन बच्चों की करतूत देखकर तो मेरी अक्ल दंग है।" चौथे ने कहा—"अजी इन बच्चों ने तो वह कर दिखाया जो बडे-बडे जवाँमर्दों से भी होना मुश्किल है।" एक ने कहा—"ऐसे लड़के को तकलीफ पहुँचाना, इन्सानियत

से खिलाफ है।" कोई बोला—"ये इन्सान नहीं, कोई पीर हैं।" लोग यों ही तरह-तरह की बातें कहने लगे।

इतने में एक लंबी दाढ़ीवाले काजी ने कहा कि "चाहे जो हो, आखिर साँप के बच्चे से वफा नहीं है, अगर ये पाक दीन इस्लाम कबूल न करें तो जरूर कत्ल करवाना मुनासिब है। और यही शरह का हुक्म है।" बहुत कुछ सोच-विचारकर सूबा बोला कि "अच्छा, इन्हें एक बार ही कत्ल न करवाकर आखिरी दम तक दीन इस्लाम कबूल करने का मौका देना चाहिए। कोई तरकीब ऐसी सोचनी चाहिए जिससे मौत को नजदीक दिखा-दिखाकर इनसे मुसलमान होने के लिए कहा जाय तो मुमकिन है, लड़के मान जायँ और अगर न मानेंगे तो आखिर शरह के हुक्म की तामील तो की ही जायगी।" यही सोचकर सबों ने यही सलाह ठहराई कि दोनों भाइयों को अगल-बगल खड़ाकर इनके पैर से शुरू करके चारों तरफ ईंट की जुड़ाई शुरू की जाय और बीच-बीच में इनसे मुसलमान होने के लिए पूछा जाय तथा जुड़ाई बराबर जारी रहे, अंत को जब गले तक दीवार पहुँचने पर भी न मानें तो सिर तक दीवार खड़ी करके इन्हें जीते जी ही दफन कर दिया जाय। अस्तु, यही सलाह पक्की हुई और इन निस्सहाय सात और नौ वर्ष के बच्चों को बुलाकर खड़ा किया गया और फिर इनको इस दंड का स्वरूप समझाकर पूछा गया कि "कहो, खूब सोच-विचार लिया, दीन इस्लाम कबूल

(६) शिवाजी और अफ़ज़लख़ाँ

दक्षिण से औरंगजेब के चले जाने के पीछे शिवाजी ने समस्त कोंकण प्रदेश पर अधिकार करने की ठानी। उस समय उन्हें जंजीरा की ओर से विशेष खटका था, क्योंकि वहाँ के सिद्दी समय-समय पर बड़ा उत्पात करते थे। यह राजगढ़ से पश्चिम की ओर बीस मील की दूरी पर था। मलिक अंबर के समय यह अहमदनगर राज्य के अधीन था। पर अहमदनगर राज्य का बँटवारा होने पर जंजीरा बीजापुर-दरबार की अधीनता में आया। बीजापुर-दरबार ने वहाँ हबशी मल्लाह रक्खे और उनकी देख-रेख के लिए अपने यहाँ के अफसरों को नियुक्त किया। शिवाजी के समय में यहाँ का एक अफगान सूबेदार था जिसका नाम फतेहख़ाँ था। शिवाजी ने कई किले फतेहख़ाँ के अधीनस्थ कर्मचारियों से छीने थे। अतः फतेहख़ाँ बहुत चौकन्ना रहता था। शिवाजी भी उसकी ओर से असावधान न थे। उन्होंने अपनी सेना को चुस्त, दुरुस्त किया। जुन्नार और अहमदनगर की लूट से उन्होंने अपनी घुड़सवार सेना और भी बढ़ाई। उन्होंने एक सेना फतेहख़ाँ से लड़ने के लिए भेजी पर वह पराजित हुई। इससे निराश न होकर शिवाजी ने एक बहुत बड़ी सेना

करोगे ?" उत्तर मे बड़े कुमार ने यही कहा—"बहुत पहले से सोच चुका हूँ, मृत्यु स्वीकार है, धर्म छोडना मजूर नहीं।" अब तो सूबा ने इशारा किया और शहरपनाह की एक दीवार गिराकर वहीं पर ये दोनों बालक खडे किये गये और जुडाई होने लगी। जब घुटने तक दीवार पहुँची और जोरावर से पूछा गया—"कहो, मुसलमान होना मजूर हो तो अब भी तुम बच सकते हो" तो उत्तर में उसने यही कहा, "क्यों बार-बार वाहियात बकते हो।" मुझे अपने इष्टदेव का ध्यान करने दो।" अब तो जुडाई कमर तक पहुँच गई। सारे सभासद् विस्मित और चकित चित्रवत् खडे यह हृदय-विदारक दृश्य देख रहे थे कि सूबा ने पूछा—"क्यो लडके, अब भी तुम्हारा इरादा बदला हो तो तुम्हारी जान बच सकती है।" जोरावर ने कहा—"अरे नराधम, चुप रह, बकवाद न कर।" अब तो उसने इशारा किया और जुडाई कमर के ऊपर से आरभ हुई। छोटा कुमार फतहसिंह निर्वात निष्कप दीप की तरह आनदचित्त खडा हुआ अपने बडे भाई के दृढ़ उत्साह-पूर्ण चेहरे की ओर देख रहा था।

जोरावर ने छोटे भाई की ओर देखकर कहा—"क्यों भाई, क्या हाल है ? कुछ चिन्ता तो नहीं है ?" छोटे कुमार ने उत्तर दिया—"नहीं भैया, कुछ भी चिंता नहीं है। उसी सत्य श्री अकाल पुरुष के चरणों में शीघ्र पहुँचूँगा इसी की बड़ी खुशी है, क्योंकि पिताजी ने कहा है कि वह दिन बडे

जजीरा पर चढाई करने को भेजो और स्वय भी चढाई कर फतेहखां से जजीरा छीन लिया।

बीजापुर के नवयुवक बादशाह आदिलशाह ने बीजापुर के सब सरदारों की एक सभा की और उसमें शिवाजी को मटियामट करने का परामर्श किया गया। बीजापुर के समस्त सरदारों ने सहर्ष इस काम में योग देने का वचन दिया। पर यह कहने की किसी की हिम्मत नहीं हुई कि हम शिवाजी को जीता अथवा मरा हुआ पकडकर ला सकते हैं, क्योंकि शिवाजी के नाम से ही सबके होश ठिकाने हो जाते थे। शिवाजी को दड देने से पहले बीजापुर-दरबार ने एक बार फिर शाहजी से अपने 'बागी पुत्र' शिवाजी को समझाने के लिए कहा पर उन्होंने इसका यही उत्तर दिया कि मेरा बेटा मेरे कहने में नहीं है, दरबार जो उचित समझे, करे। अतएव बीजापुर-दरबार ने शिवाजी को दंड देने की सोची। इस काम का भार आदिलशाह के मामा के पुत्र और बीजापुर-दरबार के प्रथम श्रेणी के सरदार अफजलखाँ ने अपने ऊपर लिया।

आदिलशाह ने इनको बारह हजार घुडसवार सेना सहायता के लिए दी और गोला-बारूद, रसद आदि सब प्रकार से सेना सुसज्जित कर अफजलखाँ से कहा कि जैसे बने, शिवाजी को जीता हुआ अथवा मरा हुआ लाना। उसने भी बडे गर्व के साथ भरे दरबार में प्रतिज्ञा की कि मैं शिवाजी को न सिर्फ

भाग्य के होंगे जिस दिन हम सब लोग उस अकाल पुरुष के चरणों को प्राप्त होंगे।" फिर बडे ने पूछा—"कहो भाई, पिताजी के कौन से वचन तुम्हे इस समय शांति दे रहे हैं?" फतहसिंह बोला—भाई साहब, सुनिए—

चित्त चरणकमल का आसरा, चित्त चरणकमल सँग जोडिए।
मन लोचे बुराइयाँ गुरू, शब्दी यह मन छोड़िए।
बांह जिन्हा दी पकडिए, सिर दीजिए बांह न छोडिए।
गुरु तेग बहादुर को लिया, धर पइए धर्म न छोडिये।
चिंता ताकी कीजिए, जो अनहोनी होय।
यह मारग ससार में, नानक थिर नहिं कोय॥

यह सुनकर बडे कुमार ने कहा—"धन्य हो! धन्य हो!" जुडाई पूर्ववत् जारी थी। दीवार छाती तक जा पहुँची। फिर सूबा ने पूछा—"कहो लडको, अब भी दीवार गिराकर तुम निकाले जा सकते हो, यदि मुसलमान होना मजूर है।" कुमार ने उत्तर दिया—"चुप रह पापी कहीं का, बार-बार वाह गुरु के ध्यान में विघ्न न डाल।" अब तो दीवार गले तक पहुँच गई। फिर भी एक बार जोर से चिल्लाकर सूबा बोला—"अरे लडको, अब भी मान जाओ, अभी तक वक्त है।" उत्तर में केवल कुमार यही बोला—"धिक्कार है। धिक्कार है तुझको!" और फिर दोनों भाई ओ३म् ओ३म् का उच्चारण करने लगे। दीवार की जुडाई जारी रही। लो ठोड़ी तक, नाक तक बालकों ने आँखें पहले ही से बंद कर ली

जिंदा ही गिरफ्तार करके लाऊँगा वरन् उसे उसके घोड़े पर ही बीजापुर चलने के लिए मजबूर करूँगा। इस प्रतिज्ञा को सुनकर समस्त दरबार प्रसन्न हुआ।

अफजलखाँ के चलते समय बड़े अपशकुन हुए, पर वह इनकी परवाह न कर शिवाजी को पकड़ने के लिए तुरत ही चल दिया। उसने बीजापुर के ठीक उत्तर की ओर का रास्ता पकड़ा। कारण उस दिशा में तुलजापुर है जहाँ भोंसले परिवार की कुलदेवी भवानी का मंदिर था और अब भी है। उसे नष्ट-भ्रष्ट करने का अफजलखाँ ने दृढ़ निश्चय कर लिया था। अफजलखाँ के आने का समाचार सुन भवानी के मंदिर के पुजारियों को यह भय और अनुमान हो गया था कि बीजापुर की सेना भवानी की मूर्ति को नष्ट-भ्रष्ट किये बिना नहीं रहेगी। अतएव उन्होंने पहले ही भवानी की मूर्ति कहीं छिपा दी। वहाँ पहुँचने पर अफजलखाँ ने देखा कि भवानी की मूर्ति नहीं है तब उसने एक गौ मारकर मंदिर के भीतर फेंक दी और उसका खून मंदिर में छिड़क दिया। शिवाजी के जासूसों ने यह सब समाचार शिवाजी के कानों तक पहुँचाया।

अफजलखाँ के आने की सूचना पा शिवाजी राजगढ़ से जावली को सेना-सहित चल दिये और प्रतापगढ़ के क़िले में अपना डेरा डाला। शिवाजी के जावली जाने का समाचार सुन अफजलखाँ ने अपना मार्ग बदल दिया। भीमा

थीं, सिर के ऊपर तक दीवार चुन दी गई और इन वीर बालकों को लीला समाप्त हो गई। अस्तु, इन दोनों बालकों के इस प्रकार मारे जाने का वृत्तात सुनकर माताजी मणिहीन फणि की तरह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ीं और बुर्ज पर से कूद-कर उन्होंने प्राण दे दिये।

जब शिष्यों-द्वारा गुरु साहब को अपने निस्सहाय वीर बच्चों के यों धर्म पर बलिदान होने का सवाद मिला तो पहले तो वे बड़े शोकातुर हुए किंतु फिर इन कुमारों की दृढता, निर्भीकता और धर्म-परायणता पर बार-बार धन्य धन्य कहने लगे, और मालवा में ही ठहरकर पुन अपनी सेना एकत्र करने लगे। जब यह समाचार सूबा सरहिंद को मिला तब वह विशेषरूप से सावधान हुआ और यथेष्ट बल पकड़ लेने पर गुरु साहब को दबाना कठिन समझ एक सहस्र सेना लेकर गुरु साहब के सिर पर आ पहुँचा। इस बार गुरु साहब एक टीले पर अपना मोर्चा बाँधकर जा बैठे। सूबा सरहिंद की सेना नजर आते ही एकबारगी बड़े जोर-शोर से उस पर आक्रमण कर दिया और दो तरफा जमकर तलवार चलने लगी। अत को जब युद्ध होते-होते सन्ध्या का समय हो गया और मुगल-सेना समीप में कोई जलाशय न होने कारण प्यास से अत्यत व्याकुल हो गई तो सूबा ने उसे लौटने की आज्ञा दी। मुग़ल-सेना के पीछे मुड़ते ही सिक्खों ने पीछा किया और भागते हुए सैकड़ों मुगल सिपाही भी इनके हाथ से मारे गये। तीन कोस

नदी पार कर वह पढरपुर पहुँचा। वहाँ भी उसने कितने ही मदिरों को तोड़ा और पुडरीक की मूर्ति को एक तालाब में फेंक दिया, मानकेश्वर और महादेव की मूर्तियों को नष्ट कर ब्राह्मणों को सताया। वहाँ से रहमतपुर होता हुआ वह वाई पहुँचा। वहाँ उसने लोहे का एक पिंजडा बनवाया, जिसमें शिवाजी को कैद कर ले जाने का उसका विचार था। अब वह शिवाजी को कैद करने का उपाय ढूँढने लगा। वहाँ के सरदारों के द्वारा उसने शिवाजी को अपने जाल में फँसाने का विचार किया। कई, देशद्रोही और स्वार्थी मरहठे सरदार अपनी सेना-सहित अफजलखाँ से आ मिले।

अफजलखाँ ने वाई से शिवाजी के पास एक दूत भेजा जिसके द्वारा वाईं में होनेवाली एक विचार-सभा मे सम्मिलित होने के लिए अनुरोध किया गया था। पर शिवाजी को भी इस समय तक बीजापुर की बहुत सी बातो का अनुभव हो गया था। अत उन्होंने विश्वासराव नाना प्रभु को, जो शिवाजी के खुफिया-विभाग का प्रधान था और जो गुप्त समाचारों का पता लगाने में बडा दक्ष था, अपना दूत बनाकर वाई भेजा। वह मुसलमान फकीरों के समान अपना वेश बदलकर अफजलखाँ के डेरे पर पहुँचा और रात-दिन अफजल के डेरे में घूमता रहा। उसने किसी न किसी तरह पता लगा लिया कि अफजलखाँ शिवाजी को अपने जाल में फँसाकर कैद करके बीजापुर ले जाना चाहता है। विश्वासराव ने यह

तक पीछा कर सिक्ख वापस आये। शत्रुओं का बहुत सा सामान भी इनके हाथ लगा।

युद्ध समाप्त हो जाने पर गुरु साहब आगे बढे। भटिंडा में उनको शाहंशाह औरङ्गज़ेब का एक पत्र मिला जिसमें गुरु साहब से दिल्ली पधारने की प्रार्थना की गई थी परंतु गुरु साहब ने छली यवनराज के वचनों का विश्वास नहीं किया। वहाँ से आगे बढ़कर एक स्थान पर कुछ दिन ठहरकर गुरु साहब ने अपनी स्मरण-शक्ति से ग्रंथ साहब का संकलन किया। ग्रंथ साहब काफी पूर्ण हो जाने पर पाँच सौ शिष्यों को लिये गुरु साहब बडे ठाट-बाट से दक्षिण का दौरा करते और मार्ग में भक्तों को अपनी अमृतमयी वाणी से सदुपदेश देते हुए राजपूताना की ओर चले आये। पश्चात् कार्तिक की पूर्णिमा का मेला देखने और उपदेश करने के लिए आप अजमेर के पास पुष्करराज में आ विराजे। यहीं पर उनको हिंदू-धर्म के प्रबल शत्रु कुटिल औरङ्ग़ज़ेब की मृत्यु का समाचार मिला।

औरङ्ग़ज़ेब के मरने के पश्चात् शाही तख्त के लिए उसके लड़कों में झगडा प्रारम्भ हो गया। उसके बडे लडके बहादुर-शाह ने अपने दो विश्वस्त कर्मचारियों के हाथ गुरु साहब से सहायता पाने की प्रार्थना की जिसका उत्तर गुरु साहब ने यह लिख भेजा कि "आप निश्चिन्त रहें, जब मौका आवेगा, आप मुझे अपने पास पावेंगे।" उत्तर भेजने के पश्चात् दो सहस्र

समाचार शीघ्र ही शिवाजी के पास भेज दिया। इस बात को जानकर शिवाजी और भी सावधान हो गये।

वाई के कुलकर्णी, कृष्णाजी भास्कर अफजलखाँ के दीवान थे। खाँ ने कृष्णाजी को शिवाजी के पास प्रतापगढ़ भेजा। कृष्णाजी दौत्यकार्य मे अत्यत दक्ष थे। खाँ ने उन्हें शिवाजी को हर तरह से समझाने-बुझाने के लिए कहा। चलते समय खाँ ने कृष्णाजी से कहा कि जैसे बने शिवाजी को मुझसे मिलने के लिए राजी करना। खाँ के दूत के आगमन का समाचार सुन, उसकी अभ्यर्थना के लिए, शिवाजी अपने स्थान से आधी दूर तक पहुँचे और बड़ी धूम से उसका स्वागत किया और उसे अपने किले में ले आये। उन्होंने दूत के सम्मानार्थ बड़ा भारी दरबार किया। उसमें दूत महाशय ने खाँ का निम्नलिखित सदेशा दिया कि "तुम्हारे पिता मेरे बडे दोस्त हैं, इसलिए तुम कुछ अजनबी नहीं हो, मैं तुम्हे भली भांति जानता हूँ। आओ और मुझसे मिलो। मैं आदिलशाह से कहकर तुम्हें कोकण का प्रांत दिलवा दूँगा और जिन किलों पर तुमने अधिकार प्राप्त कर लिया है वे किले भी तुम्हारे पास रहें, इसकी भी सिफारिश करूँगा। इसके अतिरिक्त तुम्हारे लिए कुछ सैनिक साहाय्य भी करा दूँगा। यदि तुम स्वय दरबार मे जाना चाहते हो तो चलो। वहाँ खुशी से तुम्हारा स्वागत किया जायगा और यदि वहाँ नहीं जाना चाहते हो तो इससे भी तुम्हारा छुटकारा हो जावेगा।" शिवाजी

चुनी हुई सेना को लेकर गुरु साहब दिल्ली के लिए रवाना हो गये। इन वीरों का ठाठ और उमङ्ग देख बहादुरशाह को अपनी जीत का निश्चय हो गया। बहादुरशाह का छोटा भाई आजमशाह भी बड़ी धूमधाम से दिल्ली पर चढ़ आया। उसके पहुँचते ही लड़ाई छिड़ गई। गुरु साहब सुरक्षित दल में थे। अतः वे युद्ध में भाग न लेकर एक ओर चुपचाप खड़े अपना मौक़ा देख रहे थे। जब दोपहर तक युद्ध होते-होते घनघोर लड़ाई मच गई तब गुरु साहब को मौक़ा मिला और वे अपनी सेना लेकर शत्रुओं के बाएँ पार्श्व पर एकाएक टूट पड़े और दल को तितर-बितर कर दिया। शत्रुओं की सेना घूम-फर सम्मुखीन होने की चेष्टा कर ही रही थी कि गुरु साहब ने धनुष पर बाण चढ़ाया और ऐसा अव्यर्थ संधान किया कि तीर आजमशाह के कलेजे के पार हो गया और उसका शरीर हाथी पर से छटपटाकर भूमि पर गिर पड़ा। शाहज़ादे की मौत से सारी सेना भागने लगी। सिक्खों ने उनका पीछा कर बड़ी दूर तक उन्हें खदेड़ दिया। बहादुरशाह इस जीत से बड़ा प्रसन्न हुआ और इस विजय का मुख्य कारण गुरु साहब को जानकर उनका बड़ा कृतज्ञ हुआ तथा आनन्दगढ़ बर्बाद हो जाने से जो क्षति हुई थी उसकी पूर्त्ति के लिए उसने गुरु साहब की सेवा में बीस लाख की अशर्फ़ियाँ भेज दीं। गुरु साहब को साथ ले वह अपने राज्य में दौरा करने के लिए दक्षिण देश की ओर रवाना हुआ।

ने इस संदेशे के उत्तर में कृष्णाजी से कहा—मैं खाँ की इस कृपा के लिए बहुत कृतज्ञ हूँ। इस समय मेरे अधिकार में जो किले हैं वे मुझे जागीर-स्वरूप मिल जायँगे इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है। मैं इस छोटी सी जागीर को पाकर परम संतुष्ट होऊँगा। जो हो आखिर मैं मुसलमानों का सेवक ही हूँ, मुझे इसमें कुछ आपत्ति नहीं। मैंने इस प्रांत से उद्धत, अभिमानी सरदार और अमीरों को हटा दिया है। इस प्रांत से चोर-लुटेरे और डाकुओं को भगा दिया है। समस्त प्रांत में शांति और सुशासन की नींव रख दी है। पुराने किलों की मरम्मत कराई है और नये किले बनवाये हैं। सेना में अनेक शूरवीर योद्धा रखे हैं। राज्य की सब प्रकार से उन्नति की है। इससे अच्छी और मैं आदिलशाह की क्या सेवा कर सकता हूँ कि ये सब चीजें उनके अर्पण कर दूँ और वे स्वीकार करें। खाँ साहब को तो मैं अपने पिता के समान समझता हूँ। उनसे मिलने में मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ। उनके दर्शनों की मुझे उत्कट अभिलाषा है।

दरबार की समाप्ति के पीछे जब सब लोग निद्रादेवी की गोद में बेसुध पड़े हुए थे, चारों ओर शांति छा रही थी, शिवाजी अकेले अपने घर से निकले और चुपचाप कृष्णाजी भास्कर के डेरे पर पहुँचे। वे उस समय निद्रादेवी के वशीभूत हो रहे थे। शिवाजी ने उन्हें जगाया और अत्यंत प्रभावशाली शब्दों में उनसे प्रार्थना की—"मैं जो कार्य कर रहा

गुरु साहब बहादुरशाह के संग दक्षिण में बुरहानपुर तक गये पर एक दिन सिक्ख और मुसलमान सिपाहियों में एक सूअर के शिकार के बारे में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। दो-तरफा तलवार भी चल गई। अस्तु, गुरु साहब ने यहाँ से बादशाह का संग छोड़ दिया और वे अकोला, खानदेश इत्यादि भ्रमण करते हुए नादेड़ नामक ग्राम में, जहाँ माधवदास तांत्रिक वैरागी रहता था जा पहुँचे। उसे वीर पुरुष जानकर गुरु ने उसे शिष्य बनाना स्वीकार किया और तदनुसार 'अमृत संस्कार' करके उन्होंने उसका नाम भाई बंदा रक्खा। उसका वैरागी वेष छुड़वा उन्होंने वीरवेष से उसे सज्जित करवाया और अपने तरकस से पाँच तीर और एक तलवार प्रदान कर पंजाब देश की ओर यात्रा करने की आज्ञा दी और कहा कि वहाँ के सूबा सरहिंद ने मेरे दो निरपराध बालकों का खून किया है, पहले जाकर उसका बदला लो और देश भर में खालसा पंथ और अकाल पुरुष की उपासना का प्रचार कर हिंदू-धर्म के शत्रुओं का ध्वंस करो। उक्त आदेश देकर गुरु साहब ने भाई बंदा की यात्रा का पूरा प्रबंध कर अपनी सेना में से पच्चीस शूरवीर लड़ाके सवार उसके साथ कर दिये और मालवा, माँझा तथा पंजाब के सब सिक्खों के नाम आज्ञापत्र भेज दिया कि "भाई बंदा को अपना नायक मानकर उसे सब प्रकार से सहायता देना।"

भाई बंदा ने गुरु गोविंदसिंह के मुख्य आदेश के पालनार्थ सब सर्दारों को सरहिंद पर चढ़ाई करने और गुरु साहब के

हूँ, वह केवल अपने स्वार्थ के लिए नहीं कर रहा हूँ, देश और धर्म की रक्षा से प्रेरित होकर ही मैंने इस कार्य का बीडा उठाया है। आप सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण जाति के हैं। अब तक जो कुछ मैंने प्रयत्न किया है वह हिंदू-धर्म और हिंदुओं की रक्षा के लिए किया है। साक्षात् भवानी देवी ने मुझे आज्ञा दी है कि गो-ब्राह्मण की रक्षा कर, हिंदू देवालयों के तोडने और हिंदू देवताओं की मूर्ति-खडन करने का बदला ले तथा हिंदू-धर्म्म के विद्वेषियों का सहार कर। जगदबा की इस आज्ञा से ही मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ। आप जैसे सर्व-श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सहायता की इस कार्य मे अत्यत आवश्यकता है। आपका धर्म डूब रहा है, देवमूर्तियाँ पैरों से ठुकराई जा रही हैं, इस समय देव-ब्राह्मण घोर सकट में हैं। समस्त भारतवर्ष में म्लेच्छों का प्रबल प्रताप छा रहा है। प्रभो, धर्म की ऐसी दुर्गति देखकर आपके हृदय में अवश्य कष्ट उत्पन्न होता होगा। मैंने इस दुरवस्था को दूर करने के लिए ही यह प्रयत्न आरभ किया है। पर आप जैसे महापुरुषों की सहायता से ही इस कार्य में सफलता प्राप्त हो सकती है। यदि आप मुझे इस कार्य में सहायता प्रदान करें तो मैं आपको पारितोषिक-स्वरूप दिवरा गाँव भेंट कर दूँगा। आगे आपकी जैसी इच्छा।"

शिवाजी ने अपने मधुर और प्रभावशाली शब्दों से कृष्णाजी को अपने वश में कर लिया और यह बात कृष्णाजी

निस्सहाय बच्चों के मारने का बदला लेने की सूचना भेज दी। सिक्ख जवान हाथों में तलवार ले और बदूकों मे गोली भर भर सरहिद की ओर चढ दौडे। सूबा सरहिद भी ख़ूब तैयार था। दो घड़ी तक ख़ूब ही घनघोर युद्ध हुआ और जब भाई बदा ने मुसलमानी सेना को व्यूहबद्ध लडना छोड़ अस्त व्यस्त होते देखा तो थोड़ी सी सरक्षित सेना ले बडी तेजी से वह शत्रुओं पर जा टूटा। इस तेजी को सह न सकने के कारण मुसलमानी सेना पीठ दिखाकर भाग निकली। इस झगडे में सूबा सरहिद घोडे पर से गिर पडा और सिक्खों के हाथ गिरफ्तार हुआ। उसे अपने पापों का फल भुगतना पड़ा।

भाई बदा की ओर से पूर्णतया से निश्चित हो गुरु साहब गोदावरी के किनारे एक उत्तम स्थान पसद कर, गृह-निर्माण कर, भक्ति-उपासना मे दिन बिताने लगे। गुरु नानक के सिद्धातानुसार, कि आत्मिक दृष्टि से सारे प्राणी बराबर हैं, गुरु गोविंदसिंह सहृदय सज्जन मुसलमानों को भी उपदेश देते थे और इनके पास कई मुसलमान सेवक और भक्त थे। इनमें से एक ने, दूसरे मुसलमानों से भडकाये जाने के कारण, एक दिन अर्द्ध रात्रि में मौका पा गुरु साहब के पेट में कटार भोंक दी, परतु हाथ हिल जाने के कारण चोट पूरी तरह न बैठी और गुरु साहब तत्काल ही एक चीख मारकार जाग उठे। पास ही पडी हुई नगी तलवार उठाकर उन्होंने

के हृदय में बैठ गई कि महाराष्ट्र-भूमि का उद्धार शिवाजी के हाथ से ही होगा। उन्होंने बिना किसी सकोच और प्रति-वाद के उनके कथन को स्वीकार कर लिया। वे सोचने लगे कि सचमुच शिवाजी में महापुरुषों के गुण विद्यमान हैं। ये संसार के सुख की अपेक्षा धर्म और देश की भलाई में तत्पर हैं। स्वधर्म की रक्षा और स्वराज्य स्थापन करने की अत्युच्च चेष्टा कर रहे हैं। इनके स्तुत्य कार्य में अवश्य सहायता करनी चाहिए। धैर्य, शौर्य, वीर्य आदि उत्तम गुण इनमें विद्यमान हैं। महाराष्ट्र का एक-एक बच्चा तक इनका नाम जानता और इनके गुणों का बखान करता है। आज तक इन्होंने जो पराक्रम प्रकट किया, वह प्रशसनीय है। इनकी सहायता करके स्वराज्य-स्थापन के उद्योग में यश का भागी होना चाहिए। इस तरह सोच-विचारकर कृष्णाजी ने शिवाजी के सामने प्रतिज्ञा की कि "मैं जन्म भर आपकी सेवा करूँगा, आपकी आज्ञा के विमुख न होऊँगा, ऐसा मैंने निश्चय कर लिया है।" इस प्रतिज्ञा के पश्चात् कृष्णाजी ने शिवाजी से अफजलखाँ का यह भीतरी भेद खोल दिया कि "अफजलखाँ भेट करने के बहाने आपको पकड़कर बीजापुर ले जाना चाहता है। वह आपको हथकडी-बेड़ी पहनाकर आदिलशाह की राजधानी बीजापुर की गलियों में घुमाकर सर्वसाधारण में अपनी विजय का सिक्का जमाना चाहता है।" इसके पश्चात् शिवाजी और कृष्णाजी में बहुत देर तक

एक हाथ ऐसा मारा कि खाँ के दो टुकडे होकर भूमि कर गिर पड़े। तुरत ही जर्राह बुलवाया गया और उसने जख्म सीकर मरहम-पट्टी कर दी। जख्म दिन पर दिन आराम होने लगा और करीब आधा सूख भी चला था कि इसी बीच में बहादुरशाह ने नौ टोके के दो पुराने कमान गुरु साहब को नजर में भेजे। इस कमान को देखकर लोग आश्चर्य करने और कहने लगे कि "ऐसे कमानों को कौन तानकर चलाता होगा। वे कैसे बली पुरुष होते होंगे। आज-कल तो ससार भर में इन कमानों को तानकर चलानेवाला कोई न होगा।" लोगों को ऐसा कहते सुनकर गुरु साहब से न रहा गया और खड़े होकर उन्होंने पैर से दबाकर कमान को तानकर गुण चढा ही तो दिया तथा सबके देखते-देखते तीर रखकर चला भी दिया। इस अद्भुत शौर्य को देखकर लोग चकित हुए और धन्य-धन्य कहने लगे। गुरु साहब न धनुष तान तो दिया पर इस दानवी परिश्रम ने उनके जख्म के टाँकों को, जो अभी अच्छी तरह सूखे नहीं थे, तोड़ दिया और कच्चे जख्म का मुँह खुलकर रक्त बहने लगा। बहुत यत्न करने पर भी रक्त-प्रवाह बद न हुआ। रक्त ज्यों का त्यों जारी रहा। अब तो गुरु साहब का शरीर भी निर्बल पडने लगा। उन्हें निश्चय हो गया कि अब पयान का समय आ गया। अत जर्राहों को बिदाकर मरहम-पट्टी उखाड़कर फेंक दी और सब शिष्यों को इकट्ठा कर गुरुग्रथ साहब को

यह परामर्श होता रहा कि खाँ से किस प्रकार मिला जाय। अंत में निश्चय हुआ कि "खाँ के हृदय में कृष्णाजी इस प्रकार का विश्वास उत्पन्न करें कि प्रतापगढ में खाँ आसानी से शिवाजी को गिरफ्तार कर सकेगा और जब खाँ यहाँ आ जाय तो उस पर अकस्मात् आक्रमण किया जाय और उसकी अव्यवस्थित सेना पर भी आक्रमण किया जाय।"

शिवाजी ने कृष्णाजी से ऊपर लिखी हुई गुप्त मन्त्रणा तो की, पर प्रत्यक्ष में उनके साथ ऐसा व्यवहार करते थे कि जिससे सबको ऐसा प्रतीत होता था कि शिवाजी अफजलखाँ की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। एक दिन दरबार में उन्होंने कृष्णाजी से कहा—"यदि सचमुच खाँ मेरे ऊपर इतने मेहरबान हैं और वे मुझे पुत्र के समान समझते हैं तो मैं उनसे खुशी-खुशी जावली में मिलूँगा, पर मैं बहुत दूर वाई जाने में डरता हूँ। यहाँ मैं उनके स्वागत की हर तरह से तैयारी करूँगा।"

अफजलखाँ के आगमन का समाचार सुन शिवाजी के बहुत से अनुयायी और साथी डर गये थे। उन्होंने शिवाजी को अफजलखाँ का सामना करने की सलाह नहीं दी। अफजलखाँ के संबंध में शिवाजी के सरदारों की जो सभा बैठी उसमें समस्त सरदारों ने संधि करने की सलाह दी। स्वयं शिवाजी इस समय बड़ी विकट परिस्थिति में थे। यदि वे अफजलखाँ के कहने के अनुसार आत्म-समर्पण कर देते तो उन्हें स्वतन्त्रता को

सामने रखा तथा स्नान कर नवीन वस्त्र धारणकर उपदेश दिया। तदनन्तर अपने पाँचों शस्त्र मँगवाकर फौजी पोशाक पहन ली तथा शरीर पर पाँचों शस्त्र यथास्थान कस, पीठ पर ढाल लटका बीर आसन से बैठ अपनी अत्येष्टि क्रिया के सबंध में बतला सत्य श्री अकाल, सत्य श्री अकाल, ओ३म् कहकर उन्होंने शरीर छोड़ा। उनके आदेशानुसार उनके शिष्यों ने उनका अग्नि संस्कार किया। देखते ही देखते प्रतापी गुरु गोविंदसिंह का शरीर भस्म हो गया।

—वेणीप्रसाद

जो भविष्य आशायें थीं, उन पर पानी फिर जाता और अपना जीवन बीजापुर-राज्य के अधीन एक कठपुतली के समान व्यतीत करना पड़ता और यह भी बहुत सभव था कि उन्हें आदिलशाह की कोपाग्नि में पड़कर अपने जीवन से ही हाथ धोना पड़ता। खुल्लमखुल्ला विरोध करने से भी कुछ काम न बनता था। निस्सदेह इस युद्ध का परिणाम बड़े ही महत्त्व का था। विजेता और विजित दोनों के लिए यह जीवन-मरण का सग्राम था। अतएव परिस्थिति के गौरव और महत्त्व को समझकर शिवाजी इस आक्रमण से अपनी रक्षा करने को बिलकुल तैयार हो गये। अंतिम और निश्चित योजना का आश्रय लेने के पहले उन्होंने अपनी इष्ट देवी भवानी का आह्वान किया।

शिवाजी को भवानी का ध्यान करने से यह दृढ निश्चय हो गया कि अफजलखाँ से युद्ध करने में स्वय भवानी उनकी रक्षा करेगी। उन्होंने एक दिन स्वप्न में भी देखा कि तुलजापुर में तोड़े गये भवानी के मदिर का बदला लेने के लिए भवानी ने उन्हें आदेश दिया है। अत मरहठे सरदारों को एक पचायत में युद्ध ठानने का निश्चय हुआ। इस कार्य में उन्होंने अपनी माता श्रीमती जीजाबाई की सलाह ली तो उन्होंने आशीर्वाद दिया कि "जा बेटा, तेरी विजय होगी।" इसके पश्चात् शिवाजी ने कोकण और घाट से सेना बुलवा ली और प्रतापगढ के आसपास उक्त दोनों सैन्य दलों को रखने की आज्ञा दी।

इतना प्रबंध करने के पीछे उन्होंने अपने एक दूत गोपीनाथ पंत को कृष्णाजी के साथ अफजलखाँ के पास प्रतापगढ़ आने का निमंत्रण देने के लिए भेजा। साथ ही शिवाजी ने कहला भेजा कि ठीक तो यही था कि मैं खाँ साहब की सेवा में वाई ही पहुँचता पर वहाँ जाने में मुझे डर लगता है। यदि श्रीमान् यहीं पधारें तो मैं हर तरह से सेवा करने को तैयार हूँ। यदि अफ़ज़लखाँ यह वचन दें कि मिलते समय वे मुझे कुछ हानि न पहुँचावेंगे तो मुझे उनसे मिलने में कुछ आपत्ति नहीं है। शिवाजी का पंतजी को भेजने का एक यह भी उद्देश्य था कि वे इस बात का भी पता लगावें कि अफज़लखाँ की सेना कितनी है और उसकी कितनी शक्ति है तथा उसका असली उद्देश्य क्या है और उसका आंतरिक भाव कैसा है। कृष्णाजी को बिदा करते समय शिवाजी उन्हें पाँच हजार हुण, मोतियों की माला, सोने का कंठा, सोने का पदक और एक अरबी घोड़ा भेंट किया।

पंतजी ने अफजलखाँ के शिविर में पहुँचकर उसके आदमियों को खूब रिश्वत दी और यह पता लगाया कि खाँ का भाव अच्छा नहीं है और भेंट करते समय उसने शिवाजी को पकड़ लेने का प्रबंध किया है, क्योंकि शिवाजी से खुल्लम-खुल्ला युद्ध करके उन्हें पकड़ना कठिन है। वहाँ से लौटकर पंतजी ने समस्त वृत्तांत शिवाजी से कहा, साथ ही अनुरोध किया कि खाँ के आक्रमण करने से पहले ही आप मिलते

(७) छत्रसाल

ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया संवत् १७०६ सोमवार के दिन जंगल में छत्रसाल का जन्म हुआ। इस समय इनके पिता राव चंपत मुसलमानों-द्वारा कष्ट पा रहे थे। और इनके माता-पिता एक छोटे बच्चे की समुचित शुश्रूषा करना तो दूर, प्राण-रक्षा तक बड़ी कठिनता से कर पाते थे। एक बार यवनों से घिरकर सब लोग तो इधर-उधर निकल गये और बच्चा युद्ध-क्षेत्र में ही पड़ा रह गया। भाग्य प्रबल था, नहीं तो शस्त्र से या घोड़ों की टाप से मर जाना क्या बड़ी बात था।

ऐसी ही बातों को सोचकर रावजी ने इन्हें ननिहाल भेज दिया। वहाँ ये माता के साथ चार वर्ष रहे। तदुपरांत फिर पिता से आ मिले और सात वर्ष की अवस्था तक फिर पिता के ही साथ रहे। इनके पिता के इस अनिश्चयपूर्ण जीवन में यदि कोई बात निश्चित थी तो सुख और विषयपरता का अभाव। ऐसा जीवन छत्रसाल के लिए अत्यंत लाभ-दायक हुआ। जिस प्रकार मुगल-सम्राट् अकबर ने जंगल में जन्म पाया था और अपने लड़कपन का बहुत सा भाग लड़ाइयों के बीच में ही बिताया था उसी प्रकार का अवसर छत्रसाल को मिला। जन्म भी वैसी ही दशा में हुआ और

समय उसको खतम कर डालिए जिससे उसकी सेना घबराकर चलती बने। पतजी से ये सब बातें सुनकर वाई में अफजलखाँ से न मिलने का शिवाजी ने दृढ निश्चय कर लिया।

उधर कृष्णाजी ने शिवाजी के यहाँ से लौटकर अफजलखाँ से कहा कि शिवाजी बीजापुर-दरबार की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार है, पर वह वाई आने में डरता है। यहाँ आने मे उसे डर है कि किसी तरह की उसके साथ दगाबाजी की जायगी। उसकी हिम्मत यहाँ आकर हुजूर से मिलने की नहीं होती। अगर हुजूर जावली तशरीफ ले चलें और उसकी रक्षा करने का उसको विश्वास दिला दें तो आप उसे आसानी से बीजापुर ले चलेंगे। उसने अपना एक दूत भी भेजा है, उसके द्वारा हुजूर को जावली चलने के लिए निमन्त्रण भेजा है। आप चाहें तो उससे मिल सकते हैं। खाँ ने कृष्णाजी के कथन को स्वीकार कर लिया और पतजी से भेंट की। पतजी ने शिवाजी के प्रस्ताव को अत्यन्त उत्तमतापूर्वक खाँ के सामने उपस्थित किया और कृष्णाजी ने उसका समर्थन करते हुए खाँ को जावली मे भेंट करने के लिए समझाया और कहा कि वहाँ शिवाजी से भेंट करने में सफलता की पूर्ण आशा है। शिवाजी की इस प्रार्थना को स्वीकार करने से उसके सब सदेह दूर हो जायँगे। खाँ ने इस पर आपत्ति की और कहा—"जावली भयकर प्रांत है। वहाँ सेना के ले जाने में बड़ी कठिनता होगी, और फिर इसका क्या विश्वास

पिता के साथ रहकर जीवन भर वैसी ही अवस्था में निर्वाह होने लगा। पद-पद पर आपत्तियों का सामना था। खाना कहीं, तो हाथ धोना कहीं, और आज भोजन मिला तो कल का ठिकाना नहीं। दिन-रात रक्त-प्रवाह और शस्त्र-व्यापार का दृश्य आँखों के सामने आता था। घोड़े की पीठ ही कई दिन तक लगातार सुसज्जित कमरों में कोमल गद्दों और गुद-गुदे पर्य्यंकों का काम देती थी।

इससे बचपन से ही बालक ने विषय-पराङ्मुखता सीखी। अपनी इच्छाओं को रोकना, इंद्रियों का निरोध करना, शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा आदि द्वंद्वों को चुपचाप सह लेना, उसका पहला पाठ हुआ। यह बालक प्रखर धूप और मेघा-च्छन्न रात्रि में जंगलों में फिरता था। शस्त्रों की झनकार ही इसके लिए मधुर मातृगीत की लोरी थी। लक्ष्मी के स्थान में भगवती रणचंडी ही इसकी धात्री थीं। इन बातों ने स्वभावतः इसके अवयवों को पुष्ट और हृदय को निर्भय बना दिया। यह समय उस व्यापार के लिए, जो इस बालक को आगे चलकर करना था, अत्यंत आवश्यक शिक्षा-काल था। इसी में इसके भावी चरित्रगठन की नींव पड़नी थी। यहीं उसने अपने पिता और उनके साथियों को देखकर ऐहिक सुखों को तुच्छ समझना और स्वधर्म से प्रेम करना सीखा। यहीं उसको स्वार्थत्याग और स्वातंत्र्यनिष्ठा का पाठ मिला। यहीं छत्रसाल ने पुस्तकों की तो कोई शिक्षा पाई नहीं, पर

कि शिवाजी वहाँ हमें किसी प्रकार की क्षति न पहुँचावेगा।"
कृष्णाजी ने खाँ को यह विश्वास दिलाया कि जहाँ तक मुझे पता लगा है, वहाँ भेंट करने में शिवाजी की कोई बुरी भावना नहीं है। आप शिवाजी के इस प्रस्ताव के विषय में किसी प्रकार का सदेह न करें। इस अवसर को किसी तरह चूकना न चाहिए। जावली में सेना के ठहरने का बहुत सा स्थान है। वहाँ रसद, दाना, पानी वगैरह किसी चीज की तकलीफ न होगी।

अफजलखाँ को अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा था और कृष्णाजी की बातों से रहा सहा खटका भी दूर हो गया। उसने सोचा कि सचमुच शिवाजी डर गये हैं और बिना किसी खून-खराबी के मैं उन्हें पकड़कर बीजापुर ले जाऊँगा। अत उसने वाई से चलने से पूर्व शिवाजी को भी एक पत्र द्वारा जावली पहुँचने का समाचार भेज दिया। वाई से प्रतापगढ तक जो घना जगल पडता था उसको कटवाकर शिवाजी ने एक सीधी सडक बनवा दी और सेना के ठहरने के प्रत्येक मुकाम पर पानी और रसद आदि का अच्छा प्रबध कर दिया।

अफजलखाँ के आगमन का समाचार देने के लिए गोपीनाथ पत पहाडी पर शिवाजी के पास भेजे गये। प्रतापगढ किले से चौथाई मील की दूरी पर अफजलखाँ और शिवाजी का मिलना निश्चित हुआ। शिवाजी ने वहाँ एक बहुत बढिया शामियाना खडा किया, जिसमें खाँ से मिलना निश्चित

वीर-रस-प्रधान कथाएँ उनके मस्तिष्क में भर गई और वीरोचित कर्म करने को तरंगें हृदय में उठने लगीं। वे स्वयं होनहार बालक थे। उनका भावी महत्त्व उनकी बाल्यावस्था में ही झलकता था। उस समय की क्रीड़ा, बोल-चाल, शरीरादि की चेष्टा से ही यह विदित होता था कि यह बालक आगे चलकर असाधारण व्यक्ति होगा।

जब इनकी अवस्था सात वर्ष की हुई तो इनके पिता ने इनको कुछ नियमित शिक्षा दिलवाना उचित समझा। इसका प्रबंध वहाँ जंगल में तो हो नहीं सकता था, इसलिए उन्होंने इनको फिर ननिहाल भेज दिया। मामा के यहाँ छत्रसाल छः वर्ष तक रहे और उन्होंने कुछ थोड़ा सा भाषा का ज्ञान और कुछ गणित की सरल शिक्षा प्राप्त की। तेरह वर्ष की अवस्था में इनको पैतृक घर जाने की इच्छा हुई और ये अकेले चल पड़े। महोवे में इनकी भेंट इनके चचा सुजानराय से हुई और ये यहीं रहने लगे। यहाँ इनको शिक्षा का भी प्रबंध कर दिया गया। इन्होंने उस समय की परिपाटी के अनुसार एक भद्र पुरुष को जितना जानना चाहिए था, पढ़-लिख लिया। शास्त्र-विद्या के साथ-साथ इनको शस्त्र-विद्या की भी समुचित शिक्षा दी गई, और थोड़े काल में ही उस समय के प्रचलित शस्त्रों के चलाने तथा अश्वारोहण में ये बहुत ही निपुण हो गये। शरीर सुंदर और सुडौल तो था ही, इस व्यायाम से और वय के प्रभाव से और भी गठीला, सुदृढ़ और कांतियुक्त हो गया।

किया। पहाड़ी पर ऊपर चढ़ने का जो मार्ग था उसके इधर-उधर दोनों ओर शिवाजी-ने चुने हुए सैनिक रखे। दूसरे दिन सवेरे के समय उन्होंने नित्यप्रति के अनुसार नित्य-कर्म, स्नान, ईश्वराराधन और भोजन किया। दोपहर के समय वे सोए, फिर उठकर उन्होंने भवानी के दर्शन कर अपनी सहायता के लिए प्रार्थना की। पीछे अपने विश्वस्त सहचरों को बुलाकर उनसे कुछ परामर्श किया और बीजापुर-दरबार की सेना के पीछे अपनी सेना के रखने के संबंध में कुछ आवश्यक बातें सुझाईं। अस्तु, सब प्रबंध ठीक हो जाने पर मातृभक्त शिवाजी अपनी माता के दर्शन करने गये। उन्होंने अपने पुत्र की इच्छा को न टाल-कर उसके सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया और कहा—'जाओ प्यारे बेटे, जाओ। पर उस खाँ से साव-धान रहना और अपने भाई सभाजी की मृत्यु का बदला भी लेना। जैसे कुंती के पुत्र भीम और अर्जुन वीर हुए थे, वैसा ही वीर तू मेरे हुआ है। तेरे कारण आज मैं कुंती के समान वीर-माता हूँ।"

माता से मिलने के पीछे शिवाजी ने चलने की तैयारी की। उन्होंने कवच (जिरहबख़्तर) पहना और उसके ऊपर एक सुनहला अँगरखा धारण किया। सिर पर लोहे का शिरस्त्राण धारण कर उसके चारों ओर साफा बाँधा। अस्त्र-शस्त्रों में से उन्होंने अपने बाएँ हाथ में 'बघनख' लिया और

इस प्रकार चचा के साथ रहते हुए इनको तीन वर्ष बीत गये और ये सोलह वर्ष के हुए। इस बीच में इनके विचारों का भी बहुत कुछ विस्तार हुआ था। हृदय में वीरोचित भावों की वृद्धि हो रही थी और उनके प्राकृतिक गुणों का, समय पाकर, विकास हो रहा था। देश का सारा इतिहास उनको विदित था और अब वे अपने माता-पिता की मृत्यु के कारणों और साधनों से भी पूर्ण रूपेण परिचित हो गये थे। मुगलों की वृद्धि देखकर उनका हृदय तप्त होता था। बदला लेने की तीव्र इच्छा उनको बार-बार उत्तेजित करती थी। उनके उत्साहपूर्ण हृदय को हिंदुओं की, विशेषतया बुँदेलों की, अवनति देखने से चोट लगती थी। अत उन्होंने अपने चचा को भी उत्तेजित करना चाहा और उनके आगे पिता का बदला लेने और देश को स्वातन्त्र्य देने का विचार प्रकट किया। सुजानरायजी ने हिंदुओं की दुर्बलता और मुसलमानों की प्रबलता समझाने का प्रयत्न कर छत्रसाल के चित्त को फेरना चाहा, पर उनको सफलता न हुई। इनकी युक्तियों को सुनकर छत्रसाल की अग्नि और भी प्रज्वलित हो उठी और वे वहाँ से उठकर बिना किसी से कुछ कहे-सुने कहीं को चल दिये। इस समाचार को सुन कुछ ऐसे देश भक्त वीर पुरुष, जो अपनी वर्त्तमान परिस्थिति से सतुष्ट न थे और जिनके हृदय में चंपत-राय के समय की लगी हुई आग अब तक बुझी न थी, छत्रसाल के अनुसधान में निकले और इनकी सोई हुई आशायें पुनः

अपने अँगरखे की दाहिनी भुजा में 'बिच्छू' नामक एक छोटी सी कटार छिपा ली। अपने साथ केवल दो आदमी लिये, पर ये दोनों अत्यन्त विचित्र शक्ति और हिम्मत रखते थे। ये दोनों तलवार चलाने में बड़े दक्ष थे। इस प्रकार शिवाजी और उनके साथी अफजलखाँ से मिलने चले। उसी समय अफजलखाँ भी खेमे से शिवाजी से मिलने के लिए रवाना हुआ। अपने साथ एक हजार हथियारबन्द आदमी लेकर वह पालकी में सवार हो शिवाजी से मिलने को चला। चलते समय कृष्णाजी ने अफजलखाँ से कहा कि यदि आप शिवाजी को धोखे से पकड़ना चाहते हैं तो यही अच्छा होगा कि आप अपने सैनिकों को पीछे छोड़ चलें और जितने आदमी शिवाजी ने अपने साथ लिये हैं उतने ही आप भी अपने साथ लें। खाँ ने इस कथन को स्वीकार कर लिया। उसके साथ सैयद बाँदा तथा एक और आदमी था जो तलवार चलाने में बड़ा चतुर था। शिवाजी ने उस आदमी को अफजलखाँ के साथ आते देखकर अपने एक दूत द्वारा कहला भेजा कि "इस आदमी के आने से मुझे डर लगता है। यदि खाँ इस व्यक्ति को अपने साथ न लावें तो अच्छा हो।" खाँ ने शिवाजी का कथन स्वीकार कर लिया और सैयद बाँदा को वहीं छोड़ दिया।

खाँ के आने पर शिवाजी अपने दोनों साथियों सहित उसके स्वागतार्थ आगे बढ़े। देखने में शिवाजी बिना हथियार

जागृत हो गई । इन लोगों को यह विश्वास हो गया कि देश का चिर-प्रतीक्षित नेता आ गया है ।

अभी तक छत्रसाल कुछ निश्चय न कर पाये थे कि क्या करना चाहिए कि इन्होंने सुना कि आमेर के महाराज जयसिंह एक सेना के साथ देवगढ पर चढाई करने जा रहे हैं। देवगढ जाने का इनका विचार पहले ही से था, क्योंकि इनके बडे भाई अगदराय वहाँ के राजा के यहाँ नौकर थे। जयसिंह के उस ओर जाने का समाचार पाकर इनका विचार और भी पक्का हो गया और ये उनसे जा मिले। जयसिंह ने इनका और इनके पिता का वृत्तांत सुनकर सहानुभूति प्रकट की और इनका सम्मान कर सेना में एक योग्य पद भी इनको दे दिया।

कारण-वश महाराज जयसिंह को दिल्ली जाना पडा और उनके स्थान में नवाब बहादुरखाँ सेनापति होकर आये। छत्रसाल के पिता चपतराय से और इनसे मैत्री भी थी और एक समय इन दोनों ने आपस में पग-बदला भी किया था। किंतु छत्रसाल को इनके आने के समाचार से दुःख हुआ। वह एक मुगल-सम्राट् की राज्यवृद्धि के लिए एक मुगल-सेनापति के साथ अनेक हिंदू वीरों का सर्वनाश कर एक हिंदू राजा को राज्यभ्रष्ट करने या कम से कम उसका स्वातंत्र्य छीनने में सहायक होने के कारण बडे लज्जित और दुःखी थे और वहाँ से चले जाना चाहते थे पर उनके भाई ने उन्हें रोका और समझा-बुझाकर युद्ध भर ठहरने पर बाध्य किया।

के प्रतीत होते थे और अफजलखाँ के पास एक तलवार थी। शिवाजी को देखते ही उसने समझा कि इनके पकड़ने का समय आ गया है। उसने शिवाजी को ताना मारते हुए कहा—"तुम्हारे जैसे मामूली किसान के पास इस शान के साथ शामियाना सजाने का सामान कहाँ से आया ?" इस पर शिवाजी ने बड़ी तेजी से यह उत्तर दिया—"यह काम मेरा है न कि तुम्हारा, क्योंकि तुम भटियारे के लड़के हो।" यह सुनते ही खाँ गुस्से में आ गया। उसने बाएँ हाथ से शिवाजी की गर्दन पकड़कर उन्हें अपनी बगल में दबाया और उसी समय उनके पेट मे अपनी तलवार घुसेड़ना चाहा, पर शिवाजी कवच पहने हुए थे। अब खाँ की तलवार कुछ काम न कर सकी।

इस समय शिवाजी बड़ी कठिनाई में पड़े। खाँ एक पहलवान के समान उनको अपनी बगल में दबाये हुए था। उन्होंने किसी प्रकार अपना हाथ खाँ की मुट्ठी में से छुड़ा लिया और उसके पेट में बघनख घुसेड़कर उसकी पीठ में कटारी भोंक दी। अफजलखाँ ने शिवाजी के सिर पर तलवार का आघात किया जो शिरस्त्राण पर लगी, फिर भी उनके शिर मे कुछ चोट आ गई। शिवाजी ने अपने एक साथी के हाथ से तलवार खींचकर खाँ के कंधे पर जोर से जमाई। अब खाँ ने सहायता के लिए अपने साथियों को पुकारा। आवाज़ सुनते ही सैयद बाँदा तथा अन्य लोग दौड़ आये। उन्होंने

अस्तु, बहादुरखाँ देवगढ के पास पहुँचे और गढ घेरा गया। भीतर से देवगढ के राजा राजपूतों की सेना लेकर बाहर निकले। राजपूत बडी ही वीरता से लडे और थोड़ी ही देर में मुगलों के पैर उखड चले। छत्रसाल से यह देखा न गया और वह स्वयं सेना के आगे निकलकर मुगलों को उत्तेजित करने लगे। उनके उत्साहपूर्ण वाक्यों और निर्भय आचरण को देखकर सैनिकों का दिल फिर बढा। वे फिर आगे बढे और विकट युद्ध हुआ। अत में देवगढवालों को परास्त होना पडा और उनके राजा पकड लिये गये। इस युद्ध में छत्रसाल के गहरी चोट लगी, ये पूर्णतया मूर्च्छित तो नहीं हुए थे पर इस योग्य भी न थे कि कहीं उठकर जा सकते। ऐसी अवस्था में इनके घोडे ने इनकी बड़ी रक्षा की।

बहादुरखाँ युद्ध के पीछे दिल्ली जा रहे थे, अत छत्रसाल भी उनके साथ हो लिये। मुग़लों के साथ रहते-रहते इनका द्वेष भी कुछ कम हो गया था। दिल्ली पहुँचकर इनको हिंदू जाति के प्रकृत शत्रु, बुंदेल-वंश के मूलोच्छेदक सम्राट् औरगज़ेब के दर्शन हुए। वहाँ जिन आशाओं के वशीभूत होकर इन्होंने स्व-कर्त्तव्य त्याग करने का विचार चित्त में ठाना था वे न फलीं। न तो इनको कोई उपाधि ही मिली, न धन मिला और न जागीर हाथ लगी। एक बार पुन. ये अपने भाग्य की परीक्षा करने के विचार से बहादुरखाँ के साथ दक्षिण गये और पुरस्कार के अधिकारी होने का पूर्ण

अफजलखाँ को पालकी में रखकर ले जाना चाहा कि शिवाजी सैयद पर टूट पड़े और उन लोगों को पालकी पटक देने के लिए विवश किया। सभाजी कावजी ने खाँ का सिर काट लिया और शिवाजी को भेंट किया। खाँ के साथ एक ब्राह्मण था। उसने शिवाजी पर आक्रमण किया पर शिवाजी ने दो-तीन धक्के देकर कहा—जाओ, मैं अपने पिता के आज्ञानुसार तुम्हारा वध नहीं करता।

इसके उपरांत शिवाजी ने अपनी जीत का डंका बजवा दिया। बस, फिर क्या था विजयदुंदुभि सुनते ही शिवाजी की समस्त सेना बीजापुर-दरबार की सेना पर टूट पड़ी। मणिहीन होने पर सर्प की जो दशा होती है वही दशा खाँ की सेना की हुई। कुछ सेकेंडों में ही दोनों सेनाओं का संग्राम समाप्त हो गया। बीजापुरी सेना के बहुत से मनुष्य मारे गये, परंतु जिन्होंने आत्मसमर्पण किया वे छोड़ दिये गये। शिवाजी की उदारता देख बीजापुरी सेना के मरहठों ने शिवाजी के आश्रय में रहने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया।

इस युद्ध में विजेताओं के हाथ लूट भी पूरी लगी। समस्त तोपखाना, रसद ढोनेवाली गाड़ियाँ, खजाना, खेमे, असबाब ढोनेवाले जानवर आदि सब पूरा सामान हाथ लगा। पैंसठ हाथी, चार हजार घोड़े, बारह सौ ऊँट, कपड़ों की दो हजार गाँठें और दस लाख रुपये नकद थे। इसके

प्रमाण दिया पर फल वही रहा। पुरस्कारादि के दर्शन न हुए। अब जाकर इनकी बुद्धि ठिकाने हुई और ये समझे कि इस दरबार से कुछ लाभ होने की संभावना नहीं। निदान दोनों भाइयों का चित्त मुग़ल सेवा से फिर गया और पुराने विचार फिर जागृत हुए। इन लोगों ने सोचा कि काम को आरंभ करने के पहले किसी अनुभवी पुरुष से परामर्श लेना चाहिए। अत दोनों भाई शिवाजी से परामर्श और यथा-संभव सहायता लेने की इच्छा से उनकी राजधानी तक पहुँच ही गये।

शिवाजी इनकी वंश-परंपरा इत्यादि तथा इनके आने का कारण सुन अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस बात से उनकी प्रसन्नता और बढ़ गई कि पुत्र अपने पिता का अनुकरण करना चाहता है। शिवाजी को छत्रसाल द्वारा देश का अतुलित कल्याण होने की पूर्ण आशा हो गई। उन्होंने उनके प्रण की प्रशंसा की और उनकी प्रतिज्ञा के साथ पूर्ण सहानुभूति दिखलाई तथा छत्रसाल के उत्साहपूर्ण हृदय को और भी उत्तेजित किया।

शिवाजी ने छत्रसाल को स्वतन्त्र प्रयत्न करने का परामर्श दिया और यथावश्यकता उनको आर्थिक सहायता देने का वचन भी दिया। थोड़े दिन तक शिवाजी के साथ रहकर छत्रसाल ने आवश्यक बातों का ज्ञान प्राप्त कर भाई के साथ उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में ये अपने सगोत्री शुभकर्ण नाम के एक बुन्देला-सरदार से, जो किसी किले का

अतिरिक्त बहुत से जवाहरात भी प्राप्त हुए। शिवाजी ने क़ैदियों में से रारक्षत बच्चे, ब्राह्मण, और खेमे आदि ले जानेवाले नौकरों को उसी समय छोड़ दिया।

युद्ध समाप्त होने के पीछे शिवाजी ने प्रतापगढ़ के नीचे अपनी सेना का निरीक्षण किया। शत्रुपक्ष के बड़े-बड़े सैनिक और सिपाही जो उनकी क़ैद में आ गये थे, उन्हें दयालुहृदय शिवाजी ने छोड़ दिया और रुपया, पैसा, भोजन तथा अन्य आवश्यक पदार्थ देकर उन्हें उनके घर बिदा किया। जो मराठे वीरतापूर्वक लड़े उन्हें पारितोषिक मिला। जो मराठे मारे गये थे उनके पुत्र, जो काम सम्हालने योग्य थे, अपने पिता के पद पर नियुक्त किये गये। जिन विधवाओं के कोई नहीं था उनको उनके पति के वेतन में से आधा वेतन सहायतार्थ, पेनशन के रूप में, दिया गया। घायलों को सहायता दी गई। इसके अतिरिक्त शिवाजी ने सैनिक अफ़सरों को भी जागीरें, खिलअत, जवाहरात, हाथी-घोड़े दिये।

इसके पीछे अपने एक हाथ में अफ़ज़लखाँ का सिर लेकर शिवाजी अपनी माता के पास पहुँचे। शिवाजी को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने आशीर्वाद दिया और अपने ज्येष्ठ पुत्र अर्थात् शिवाजी के बड़े भाई सभाजी की मृत्यु का बदला लेने के लिए शाबाशी दी। अफ़ज़लखाँ पर विजय प्राप्त होने के उपलक्ष में शिवाजी के राज्य में बड़ा उत्सव मनाया गया।

किलेदार था, मिले। उसने इनका बड़ा आदर-सत्कार किया। चलते समय इन्होंने शुभकर्ण को भी देश-स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के शुभ कार्य में सहयोग देने की मन्त्रणा दी। पहले तो उसने छत्रसाल को इन विचारों से रोकना चाहा परन्तु इनको दृढ़प्रतिज्ञ देख इनको राजद्रोही समझ वह इनका शत्रु बन बैठा। जब छत्रसाल ने उससे कुछ काम निकलता न देखा तो वहाँ से घर की ओर लौटे। रास्ते में अपने चचेरे भाई बलदिवानजी के यहाँ औरङ्गाबाद में ठहरे। बलदिवान पहले ही से मुगलों से रुष्ट थे और हिन्दुओं के साथ किये जानेवाले कुत्सित व्यवहार से इनका चित्त खिन्न हो रहा था। अत छत्रसाल के शब्दों ने उनके हृदय में शीघ्र ही प्रवेश किया। उन्होंने इनकी प्रतिज्ञा की श्लाघा की और उसके साथ पूर्ण सहानुभूति दिखलाई। इस पुण्य कार्य में योग देने का वचन भी दिया पर उन्होंने एक शङ्का की—वह यह कि मुगलों के पास अमित शक्ति है और उनके सिपाहियों की संख्या भी बहुत बड़ी है जब कि हमारे पास समुचित सामग्री नहीं और बुन्देलखण्ड में भी बहुत से व्यक्ति छत्रसाल से विरोध रखते हैं, ऐसी अवस्था में विजय की आशा कहाँ तक की जा सकती है? छत्रसाल ने इसका एक असाधारण उत्तर दिया, जो साधारण मनुष्यों के साहस के बाहर है। उन्होंने प्रस्ताव किया कि एक पत्र पर 'स्वाधीनता' और दूसरे पर 'पराधीनता' लिखा जाय और श्रीरामचन्द्र

हिंदी भाषा के प्रसिद्ध कवि भूषण ने, जो शिवाजी के दरबार में थे, अफजलखाँ के वध के विषय में निम्नलिखित छंद लिखा है—

बैर कियो सिव चाहत हो, तब लौं अरि बेध्यो कटार कठैठो।
यौंही मलिच्छहि छाँडै नहीं, सरजा मन तापर रोस में पैठो॥
भूषन क्यों अफजल्ल बचै, अठपावके सिंह को पाँव उमैठो।
बीछू के घाव धुक्योई धरक है, तौ लगि धाव धराधर बैठो॥

—नंदकुमारदेव शर्मा

के मंदिर में ये पत्र किसी अपढ़ पुरुष के सामने रख दिये जायँ। वह जो पत्र उठा ले उसी के अनुसार काम किया जाय। एक बालक से पत्र उठवाया गया और छत्रसाल का विश्वास सार्थक हुआ अर्थात् बालक ने स्वाधीनतावाला पत्र उठाया। उस समय से बलदिवान छत्रसाल के अनुयायी हो गये और बराबर उनका साथ देते रहे।

अपने जन्मस्थान के निकट मोर पहाड़ी पर इन्होंने अपना डेरा डाला और वह इनकी प्रथम छावनी थी। यहाँ पर धीरे-धीरे इनके पिता के पुराने साथी या उनके वंशज इनसे मिलने लगे और भावी युद्ध के लिए सामग्री एकट्ठी होने लगी।

सम्राट् औरंगजेब की ओर से ग्वालियर के सूबेदार ने ओरछा-नरेश को मंदिरों के तोड़ने के कार्य में योग देने के लिए लिखा और अवज्ञा करने की अवस्था में दंड-भय भी दिखलाया। अब ओरछा-नरेश महाराज सुजानसिंह बड़े धर्म-संकट में पड़े। ऐसे अवसर पर उनको छत्रसाल की सुधि आई और छत्रसाल को मुगलों के विरोध पर खड़े करने के उद्देश्य से उन्होंने बुलवाया। छत्रसाल से औरंगजेब के विरुद्ध धर्म-रक्षणार्थ सहायता देने के लिए कहा गया। वे महाराज की नीति तो समझ गये पर कार्यारंभ के समय ही शत्रुओं की न्यूनता से लाभ होता देख सुजानसिंह से कुछ द्रव्य ले सुखी-सुखी बिनौरी से होते हुए ओड़ेरा गये। यहाँ पर इनके सब

थी। बहुत से संबंधी या हितेच्छु, जो पहले डर या शंका से इनसे खुलकर न मिल सकते थे, अब निर्भीक होकर मिलते थे और जो लोग इनसे विरोध करना साधारण बात समझते थे वे अब इनको प्रसन्न करने का प्रयत्न करने लगे।

एक तुच्छ डाकू का इस प्रकार सिर उठाना और अजेय रह जाना मुगल-सेना के लिए बड़ी लज्जा की बात थी, यह सोचकर छत्रसाल को दबाने का प्रबंध औरंगजेब ने करना आरम्भ किया। शाही सेना का मुख्य सेनापति रनदूलह मुगल-सरदारों और छत्रसाल-द्रोही बुंदेले जागीरदारों के साथ मऊ की ओर छत्रसाल पर चढ़ाई करने के लिए रवाना हुआ। इस चढ़ाई का समाचार पाते ही छत्रसाल ने मऊ से कूच कर दिया और पास के ही एक किले को, जो मुगलों के अधिकार मे था, अपने वश में कर लिया। इससे रनदूलह को और भी क्रोध हुआ। वह उसी किले की ओर बढ़ा। छत्रसाल रास्ते में पड़नेवाली एक नदी के पास अपनी आधी सेना को लेकर पहले से ही छिपे हुए थे और शेष सेना बलदिवान के साथ गढ़ में था। छत्रसाल के अचानक धावा मारने से मुगल-सेना घबरा गई, पर जब मुगल सेना सँभलकर लड़ने के लिए प्रस्तुत हुई तब वे जंगलों के रास्ते निकल गये। और जिस समय मुगल-सेना ने गढ़ पर आक्रमण किया और गढ़-वाले भीतर से उन पर गोले बरसा रहे थे उसी समय छत्रसाल ने बाहर से उन पर धावा मारा। एक पहर रात तक लड़ाई

होने के पश्चात् छत्रसाल को ही जीत हुई और उनकी सेना ने मुग़लों का पीछा कर उनकी सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया।

रनदूलह को पराजित कर मुख्य-मुख्य स्थानों का चक्कर लगाते हुए इन्होंने नरवर में डेरा डाला। यहाँ इन्होंने दक्षिण से दिल्ली जाती हुई रुपयो तथा रत्नों से भरी हुई सौ गाड़ियाँ लूटीं। इस समाचार को पाकर इस बार बादशाह ने बक्काखाँ के साथ एक फौज रूमियो की भेजी। बसिया के मैदान में युद्ध हुआ। छ घंटे तक लड़ाई हुई और अंत में बुंदेलों को हटना पड़ा पर रात्रि मे जब रूमियों के यहाँ गोला-बारूद बँटना आरंभ हुआ और एक प्रकार से गोलमाल हो गया तब अवसर पा छत्रसाल की सेना ने उन पर धावा मारा। इस आकस्मिक आक्रमण से वे घबरा गये और मशालचो के हाथ से मशाल छूटकर मैगजीन मे गिर पड़ी और एक भयंकर शब्द के साथ सब गोला-बारूद फट पड़ा। ऐसी अवस्था में रूमियों का सँभलना असभव हो गया और वे भाग निकले। रूमियों के पराजय का कुसमाचार पाकर औरंगज़ेब ने तहव्वरखाँ के सेनापतित्व में एक दूसरी सेना भेजी। जिस समय ससुराल में छत्रसाल की भाँवरे फिर रही थी, तहव्वरखाँ ने उन्हें आ घेरा पर वे किसी प्रकार धोखा देकर निकल गये। वह हाथ मलता ही रह गया।

चार महीने के पश्चात् इन्होंने कालिंजर पर धावा मारा और उन्नीस दिन के घोर संग्राम के पश्चात् कालिंजर के किले

पर अपना अधिकार जमा लिया। इस किले के मिलने से छत्रसाल का बल बहुत बढ गया और समय पर काम देने योग्य एक बहुत ही उपयुक्त स्थान इनके हाथ लग गया। इसके पीछे रामनगर, सागर, दमोह, डोलची और बिरहना लूटकर रास्ते में नरसिंहगढ़ को लेते हुए एरिच को लूट, हिनौती, कोटरा और जलालपुर को हस्तगत कर बेतवा नदी पार करने लगे तो पठानों की एक सेना ने इनको रोकना चाहा पर उसको हार हुई और उसके सेनापति के प्राण बडी कठिनता से बचे।

तहव्वरखाँ पुन सेना एकत्र कर राजगढ़ की ओर, जहाँ छत्रसाल का पडाव था, बढा। राजगढ से पाँच कोस पर दोनों सेनाओं का सामना हुआ पर थोडी देर के पश्चात् ही शाही सेना के पाँव उखड गये और वह रणक्षेत्र छोडकर भागी। इस युद्ध के पश्चात् बहुत ही थोडे काल में बहुत से नगर सहज ही इनके अधिकार में आ गये। शत्रुओं के उकसाने से गाँवों के जमींदारों ने भी मिलकर कई बार छत्रसाल पर धावा करने का साहस किया, पर उनको अपनी मूर्खता का दड मिला और उन्हें अधीनता स्वीकार करनी तथा चौथ देने की प्रतिज्ञा करनी पडी।

छत्रसाल दिग्विजय करते हुए ओरछे से सीधे ग्वालियर आये। यहाँ तहव्वरखाँ सूबेदार था। उसने डरकर चौथ देना स्वीकार किया और २००००) देकर किसी प्रकार पीछा छुड़ाया। इसके पीछे इन्होंने भेलसा के किले को घेरा। किलेदार ने शीघ्र ही हार मान ली और उज्जैन तक वह मारा

प्रांत इनके हाथ में आ गया। यह समाचार पाकर औरंगजेब ने इस बार एक बड़ी सेना शेख अनवरखाँ के साथ भेजी। शेखजी ने भेलसे से मऊ जाने का रास्ता रोक लिया और वे बैठे-बैठे छत्रसाल को पकड़ लेने या मार डालने की आशा में पड़े रहे। इनके पड़ाव पर छत्रसाल ने अचानक रात में धावा मारा। थोड़ी देर के युद्ध के पश्चात् मुसलमानी सेना के पैर उखड़ गये। शेखजी पकड़े गये। कई दिन तक बंदी रहकर अनवरखाँ ने सवा लाख रुपये छत्रसाल को भेंट किये और चौथ देने का वादा किया।

धामौनी के सूबेदार और सेना के नायक मिर्जा सदरुद्दीन ने, जिसके पास तीस सहस्र से कम सेना न थी एक दूत के द्वारा छत्रसाल से कहलाया कि लूट मार का पेशा छोड़कर मुगल सम्राट् की अधीनता स्वीकार कर लो। छत्रसाल ने इसके उत्तर में मिर्जा साहब से चौथ माँगी। इससे कुपित हो मिर्जा ने दूसरे दिन सबेरे ही लड़ाई आरंभ कर दी। पहले दिन जीत मुसलमानों के ही हाथ रही। उस समय छत्रसाल युद्धक्षेत्र में न थे। पर दूसरे दिन बलदिवान और छत्रसाल दोनों ने एक साथ उन पर आक्रमण किया। इस नई सेना के आ जाने से मुसलमानी सेना घबरा गई और कुछ देर बाद हारकर भाग पड़ी। मिर्जा साहब स्वयं पकड़े गये और कई दिन बंदी रहकर चौथ का वचन और सवा लाख रुपया तत्काल देने पर छूटे।

लड़ाई के पश्चात् छत्रसाल चित्रकूट की ओर कामतानाथजी के दर्शन के लिए चले। रास्ते में इन्होंने हमीदखाँ और सैयद लतीफ को हराया और इनसे एक लाख रुपया वसूल किया। इस लड़ाई में छत्रसाल के हाथ बहुत सामग्री लगी और राज्य का विस्तार भी बहुत बढ़ गया और जो प्रांत मुगल-शासन मे होते हुए भी चौथ देते थे उनकी संख्या भी बहुत बढ़ गई।

शास्त्र के निर्देशानुसार अनेक पुण्य कर्म कर अपने गुरु श्रीप्राणनाथजी के अनुरोध से छत्रसाल संवत् १७४४ में अपने विस्तृत राज्य के महाराज हो गये। इस अवसर पर ओरछा-वालो से एक हलकी छेड़छाड़ हुई। बुंदेलखंड में प्रथा थी कि जिसको ओरछा से तिलक मिले वही राजा कहलाये, पर जब छत्रसाल ने बिना ओरछा के पूछे ही अपना अभिषेक करा लिया तो उन्होंने हँसी में यह पद लिख भेजा—

ओरछे के राजा अरु दतिया के राई।
अपने मुँह छत्रसाल बने बाराबाई॥

छत्रसाल स्वयं कवि थे। उन्होंने इस पद के उत्तर में एक कवित्त बनाकर लिख भेजा—

सुदामा तन हेरे तब रंकहूँ ते राव कीन्हों,
विदुर तन हेरे तब राजा कियो चेरे तें।
कुबरी तन हेरे तब सुंदर स्वरूप दीन्हों,
द्रौपदी तन हेरे तब चीर बढ़यो टेरे तें॥

कहत छत्रसाल प्रह्लाद की प्रतिज्ञा राखी,
हिरनाकुस मारो नेक नजर के फेरे तें ।
ऐसे गुरु ज्ञानी अभिमानी भए कहा होत,
नामी नर होत गरुड़गामी के हेरे ते ॥

इसका प्रत्युत्तर ओरछा-नरेश कुछ भी न दे सकते थे। कहते हैं, इसके पश्चात् उन्होंने इनको सवाई राजा छत्रसाल के नाम से पत्र लिखा।

मिर्जा सदरुद्दीन के पराजय का समाचार पाकर औरङ्गज़ेब ने अमीर अब्दुस्समद को बुन्देलखण्ड भेजा। मौधा के समीप दोनों सेनाओं का सामना हुआ। अभी तक जितनी लड़ाइयाँ बुन्देलों को मुगलों से लड़नी पड़ी थीं उन सबसे यह कदाचित् भीषण थी। दो एक बार स्वयं छत्रसाल इस प्रकार घिर गये कि यदि थोड़ी देर तक और सहायता न पहुँच जाती तो प्राण बचना कठिन था। परन्तु अंत में जीत इन्हीं की हुई और अब्दुस्समद को अपने डेरे की ओर हटना पड़ा। रात्रि में छत्रसाल ने फिर उसकी सेना पर छापा मारा और अमीर को चौथ देकर अंत में छुट्टी लेनी पड़ी।

युद्ध के कुछ काल पीछे इन्होंने सुहावल पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा को चौथ देने के लिए विवश किया। इसी समय भेलसा के फिर मुगलों के हाथ में चले जाने का समाचार पा ये उसे लेने के लिए आगे बढ़े और रास्ते में ही बहलूल को हरा भेलसा और शाहगढ़ पर इन्होंने अपना

अधिकार जमा लिया। इसके अतिरिक्त और भी कई छोटे-छोटे स्थान इनके राज्य-गत हो गये।

छत्रसाल ने सेवडा पर आक्रमण किया। यह स्थान दलेलखाँ नामक पठान सरदार को दिल्लीश्वर से जागीर में मिला था। वह स्वय तो दिल्ली गया था पर उसका नायब मुरादखाँ उसकी जगह काम देखता था। दो-तीन दिन तक उसने किले का बचाव किया पर चौथे दिन बुन्देलों का इस पर कब्जा हो गया और मुरादखाँ मारा गया। दिल्ली से लौटने पर दलेलखाँ ने छत्रसाल को एक पत्र लिखा जिसमें उसने छत्रसाल के साथ सच्चा स्नेह प्रदर्शित किया था और उनका कल्याण चाहते हुए रक्षा की आशा की थी। छत्रसाल को यह पत्र पढकर वृद्ध दलेलखाँ पर दया आ गई और बलदिवान को लिखकर उन्होंने दलेलखाँ को जागीर लौटा दी और जो कुछ माल तथा रुपया उसका लूट में आया था, सब फेर दिया। इतना ही नहीं, प्रत्युत जो कुछ उसकी क्षति हुई थी उसकी पूर्ति अपने पास से धन देकर कर … इस उदारता का

स्थान में शाहकुलीख़ाँ को नियत किया। शाहकुली में विषयपरता का लेश भी न था और स्वकर्तव्यसाधन ही उसकी एकमात्र सुख सामग्री थी। वह मुगल-सेना की कमजोरी को भली भाँति जानता था, अत उसने धामौनी आते ही सुधार करना आरम्भ किया। सबसे पहले उसने अपना ही सुधार किया और थोड़े ही काल में इसका प्रभाव पडा। इधर प्रत्येक लडाई में जीत होने के कारण बुंदेले अभिमान से भर गये थे और अपने शत्रुओं को तुच्छ समझने लगे थे। उनको विश्वास था कि कोई मुगल-सेना उनके सामने नहीं ठहर सकती। अस्तु, शाहकुली ने शीघ्र ही उनके अभिमान को चूर्ण करके उनको निर्भ्रम कर दिया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि बुंदेलखंड में मुगलों का शासन पुन स्थापित हो जायगा।

थोड़े दिनों मे ही शाहकुली ने बहुत से स्थानों को अपने हाथ में कर मऊ की ओर प्रस्थान किया। मऊ से कुछ दूर पर दोनों सेनाएँ एक दूसरे के सामने आईं। सध्या-समय बुंदेलों के पाँव उखड गये और छत्रसाल तथा बलदिवान आदि के लाख लाख समझाने पर भी सिपाही न सँभले। रात्रि में छत्रसाल ने सिपाहियों को आश्वासन दे उनका ध्यान उस परिस्थिति की ओर खींचा जो मुगलों के पुनरभ्युदय की अवस्था में उनकी होगी, यवनों के अत्याचार की स्मृति दिलाई और धर्म-युद्ध के अक्षय लाभ की ओर उनका चित्त आकर्षित किया।

इन बातो से बुदेलों में फिर उत्साह आ गया और वे लडने के लिए पुन प्रस्तुत हुए। अस्तु, दिन भर की लड़ाई के पश्चात् सध्या होते-होते मुगल-सैनिकों के पैर उखड गये और उन्होंने शस्त्र छोड दिया। परन्तु शाहकुली की अभी पराजय नहीं हुई थी। छत्रसाल ने शाहकुली को अपनी सेना की दशा सुधारने का अवसर न देकर, उसका पीछा किया और अलीपुरा पर, जहाँ उसने रात्रि मे डेरा डाला था, धावा किया। मुगल-सेना परास्त हुई और शाहकुली पकडा गया। कई दिन बदी रहकर उसने दड-स्वरूप धन दिया और भविष्य के लिए चौथ देना स्वीकार किया। मुगलों के साथ छत्रसाल की यह अतिम लड़ाई थी। औरंगजेब की मृत्यु के पहले एक बार इनको और लडना पडा। बीजापुर से एक पठान ने सवत् १७५० मे पन्ने पर चढाई की, पर पन्ना के निकट पहुँचते ही वह मारा गया।

सवत् १७६४ में औरगजेब की मृत्यु हो जाने के पश्चात् मुगल-शासन अत्यत दुर्बल हो गया। अब बहादुरशाह दिल्ली में सम्राट् हुए। इनके मत्रियों ने छत्रसाल के पराक्रम की बड़ी प्रशसा की और मुगल-वश से उनके पुराने सबंध का (जब उनके पिता तथा वे स्वय राजसेवा में थे) कथन किया और छत्रसाल को अपना सहायक बनाने का परामर्श दिया। निदान बहादुरशाह ने इसी आशय का पत्र छत्रसाल के पास भेजा और पुराने झगडों को भूल जाने तथा भविष्य के लिए

सधि करने का प्रस्ताव किया। अत मे उनसे दिल्ली आने के लिए बहुत आग्रह किया गया।

पत्र पाकर छत्रसाल ने यथोचित उत्तर भेज दिया और कुछ सोचकर ये दिल्ली गये। वहाँ इनका बडा सम्मान हुआ। इन्होंने भी बादशाह के सधि-प्रस्ताव को स्वीकार किया। फिर इनका और मुगलों का झगडा न हुआ। लोहागढ का किला विद्रोहियों का सबसे दृढ और सुरक्षित स्थान था और मुगलसेना उसे लेने में बार-बार असमर्थ हुई। छत्रसाल ने उस पर आक्रमण किया और ये फाटक तोड किले के भीतर घुस गये। वहाँ से ये फिर दिल्ली आये। अब की बार पहले से भी अधिक इनका समादर हुआ और बादशाह ने धन्यवाद देते हुए चिर सहकारी बनने का प्रस्ताव किया और अपने राज्य का कुछ भाग इनके राज्य में जोड इनको अपने यहाँ का प्रधान अमीर बनाना चाहा। परतु इन्होंने इस बात को स्वीकार न किया। इन्होंने बादशाह को समझा दिया कि जो श्री मैंने अपने पराक्रम से प्राप्त की है वह मेरे लिए पर्याप्त है, मुझे किसी से दान लेने की आवश्यकता नहीं। यदि आपको कभी मुझ से सहायता लेनी हो तो मैं यथा-सभव धर्म की मर्यादा की ओर ध्यान रखता हुआ आपका कार्य करने की चेष्टा करूँगा। परतु जिस स्वातन्त्र्य को मैंने इतने कष्ट से उपार्जित किया है उसे खोने के लिए मैं प्रस्तुत नहीं हूँ। मुझे किसी के अधीन रहने की आवश्यकता नहीं। सिवा ईश्वर के मैं और किसी को अपना स्वामी नहीं मान सकता।

[illegible] दो-चार दिन दिल्ली रहकर फिर मऊ लौट आये और लड़ाई-झगड़े से छुट्टी पाकर देश के प्रवध में लगे। [illegible] कई प्रांतों में विभक्त कर एक-एक प्रांत [illegible] के [illegible] रखा था। सवत् १७८८ में, जब [illegible] की थी, अपने पुत्रों और मत्रियों को [illegible] राजनीति की शिक्षा दे अत में कुछ धर्म की [illegible] न जाने कहाँ दक्षिण की ओर चले गये। फिर [illegible] न चला।

—सपूर्णानद

